सहजानंद शास्त्रमाला

समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

समाधितन्त्र **आचार्य पूज्यपाद** द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है. इस पर पूज्य वर्णीजी द्वारा अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में समाधितन्त्र ग्रन्थ के श्लोक 28 से 50 तक के प्रवचन संकलित हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती प्रीति जैन,** इन्दौर तथा **श्रीमती मनोरमाजी**, गान्धीनगर का सहयोग रहा है, प्रूफ़िंग का कार्य **श्रीमती प्रीति जैन** द्वारा किया गया है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय 2

आत्मकीर्तन 4

आत्म रमण 5

श्लोक 28 ..... A

श्लोक 29 6

श्लोक 30 11

श्लोक 31 18

श्लोक 32 22

श्लोक 33 26

श्लोक 34 31

श्लोक 35 37

श्लोक 36 42

श्लोक 37 47

श्लोक 38 52

श्लोक 39 56

श्लोक 40 61

श्लोक 41 67

श्लोक 42 73

श्लोक 43 78

श्लोक 44 83

श्लोक 45 88

श्लोक 46 94

श्लोक 47 98

श्लोक 48 105

श्लोक 49 112

श्लोक 50 121

समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

श्लोक 28

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन:।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ।।२८।।

प्रस्तावना—इस श्लोक से पहिले इस समस्त ग्रन्थ की संक्षिप्त भूमिका में यह बता दिया गया था कि लोक में तीन प्रकार से आत्मत्व मिलेगा—बहिरात्मत्व, अन्तरात्मत्व और परमात्मत्व। इनमें अन्तरात्मा बनने के उपाय से बहिरात्मापन को छोड़ना और परमात्मत्व को ग्रहण करना, बस यही जीवों का परम पुरूषार्थ है। इसके वर्णन में बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बताया है। उसमें भी परमात्मा के स्वरूप को संक्षेप में ही कहकर बहिरात्मा के स्वरूप का विशेष वर्णन किया और उससे भी विशेष अन्तरात्मा का वर्णन किया। प्रायोजनिक अन्तरात्मा का वर्णन करके अंत में यह शिक्षा दी गयी है कि इस प्रकार बहिरात्मापन को छोड़कर और अन्तरात्मत्व में स्थित होकर परमात्मत्व की भावना करनी चाहिए। अब उस ही परमात्मत्व की भावना के सम्बंध में यह प्रकरण चला है।

कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म—परमात्मत्व दो प्रकार से है—एक कारणपरमात्मत्व और एक कार्यपरमात्मत्व। ऐसा यह दो प्रकारपना केवल परमात्मत्व में ही नहीं है, किन्तु प्रत्येक प्रसंग में कारणत्व और कार्यत्व का प्रयोग है। जैसे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु। इस ही प्रकार कारण समयसार और कार्य समयसार। जो सहज चैतन्यस्वभाव है वह तो है कारणब्रह्म और जो चित्स्वभाव मात्र का उत्कृष्ट शुद्ध विकास है वह है कार्यब्रह्म। परमार्थदृष्टि से यह आत्मा निजस्वरूप होने के कारण, कारणब्रह्म की उपासना कर सकता है। कार्यब्रह्म की उपासना तो उसे विषयभूत बनाकर अथवा आदर्श मानकर किया करके हैं। सो वहां भी इस आत्मा ने गुणस्मरणरूप निज परिणमन का विकास किया है। तो जहां परमात्मत्व की भावना करने का संदेश आया हो वहां पर अध्यात्मशास्त्रों में यह अर्थ लेना चाहिए कि शुद्ध कारणब्रह्म की उपासना करें।

परमात्मत्व की उपासना और आत्मस्थिति—इस परमात्मत्व की उपासना कैसे होती है ? उसका फलितरूप यह है कि आत्मा आत्मा के ही स्थिति को प्राप्त करले तो समझ लीजिए कि मैंने

कारणब्रह्म की उपासना की। उसका व्यवहारिक प्रयोग क्या है, यह इस श्लोक में पूर्वपंक्ति में बताया जा रहा है। 'वह मैं हूं' इस प्रकार का पाया है संस्कार जिसने, ऐसा यह मुमुक्षु आत्मा में ही कारणपरमात्मतत्त्व की बारबार भावना करता है। उस भावना के बल से उस ही कारणपरमात्मत्वस्वरूप में सच्चिदानन्दस्वभाव में दृढ़ संस्कार वाला होता है। इस दृढ़ संस्कार से वह आत्मा आत्मा में ही स्थिति को प्राप्त होता है। इस सहज चैतन्यस्वरूप की उपासना में जो आनन्द भरा है, जो तत्त्व है वह अन्यत्र किसी भी स्थिति में नहीं है।

बरबादी—भैया ! यह वैषयिक सुख तो इसके पीछे यों लग गया है जैसे लोग कहा करते हैं कि किसी को सताने के लिए प्रेत पीछे लग जाता है। उससे भी कठिन ढंग से ये विषय-कषाय इसकी बरबादी के लिए तुले हुए लगे हैं। ऐसी मोहिनी धूल पड़ी है इन जीवों पर जिससे कि उन विषयों से बरबाद होते चले जा रहे हैं। फिर भी उन विषयों में प्रीति बनाये जा रहे हैं। और केवल इतना ही नहीं, विषयों के वश होकर दीन भी बने फिर रहे हैं। किंतु पंचेन्द्रिय और मन के विषय में अपना बड़प्पन मानकर अभिमान से चूर हो रहे हैं। यह जीव सबको तुच्छ समझता है और अपने आपको बहुत उच्च समझता है, पर यह विदित नहीं है कि अभिमानी पुरूष वह तो अकेला ही सबको तुच्छ देखता है, पर नीचे रहने वाले पुरूष अर्थात् नम्र सभ्यगण उस अभिमानी को सभी के सभी तुच्छ देखते हैं। अहंकार में डूबे हुए पुरूष को कभी विवेकपूर्ण ध्यान नहीं रहता है। यह अहंकार भी अज्ञान का ही प्रताप है। अपने आपके स्वरूप का कोई भान नहीं है। यह पर्याय का अहंकारी, विषयों का मोही यह नहीं जान पाता है कि मेरा स्वरूप तो वही है जैसा कि सबका है। सब में एकरस, एकस्वरूप यह आत्मतत्त्व है। इसकी पहिचान न होने से ही यह अपने को सबसे निराला और बड़ा मानता है। ओह, जो बहिर्मुख रहता है उसकी कहां भावना हो सकती है कि वह परमात्मस्वरूप को समझे, उसकी भावना करे और अपना जीवन सफल करें।

अहम्—मैं वह हूँ। कौन ? सीधा समझने के लिए तो व्यवहार का आश्रय करके शुद्ध विकास की ओर दृष्टि दें—मैं वह हूँ जो अनन्तज्ञानादिमय परमात्मस्वरूप है, सो ही मैं हूँ और परमार्थदृष्टि से जो सहज ज्ञानरूप है, सहज दर्शनरूप सहज आनन्दमय, सहजशक्तिस्वरूप जो चित् रूप है, ज्ञायकस्वभाव है वह मैं हूँ, ऐसी भावना निकटभव्य पुरूष के होती है। मैं वह हूँ ऐसी भावना के साथ यह भी बात छिपी हुई है कि मैं और कुछ नहीं हूँ, मैं प्रभुस्वरूप हूँ ऐसा कोई चिंतन करे तो उसमें यह बात पड़ी हुई है कि मैं रूलने वाला, मिटने वाला संसारी प्राणी नहीं हूँ। और जब निज कारणब्रह्म को लक्ष्य करके कहा जाय कि मैं वह हूँ तो उसमें यह बात पड़ी हुई है कि मैं गति, इन्द्रिय, देह योग, वेद सर्व प्रकार के भेदभावों रूप नहीं हूँ।

भावना का प्रभाव—भैया ! शुद्धात्मतत्त्व क भावना का बहुत महत्त्व है। किसी भी ओर की भावना हो

तो वह भावना अपना प्रभाव दिखाती है किसी को बड़ी आर्थिक हानि हो गयी हो और उस ओर ही भावना बन रही हो तो उस भावना का इतना असर हो जाता है कि उसे दिल की बीमारी हो जाती है और जब बीमारी बढ़ जाती है तो सारे हितैषी लोग गोद में भी लिए फिरें, तिस पर भी वह लाइलाज हो जाता है। कोई पुरूष नाटक के मंच पर स्त्री का पार्ट करे और मैं स्त्री हूँ ऐसी दृढ़ भावना करले तो उसे अपने पुरूषार्थ का भी स्मरण नहीं रहता। किसी नाटक में तो यह भी सुना गया है कि किसी ने अमरसिंह का पार्ट किया तो मैं अमरसिंह हूँ ऐसी दृढ़ भावना भरी। इसके कारण अमरसिंह ने जैसे मारा था, उस ही प्रकार यह भी उस नाटक के मंच पर पार्ट में बने हुए सुलतानसिंह को शस्त्र से मार दिया था। और है क्या ? एक भावना ही तो घर कर गयी है जिसने नानारूप रखने पड़ते हैं।

भावनानुसार वृत्ति—कोई पुरूष इस ध्यान में गड़गप्प हो जाय कि मैं तो एक लम्बा चौड़ा भैंसा हूँ। खूब ध्यान करे तीव्र गति से तब चित्त पूर्ण प्रकार से यों हो जाता है कि मैं भैंसा हूँ, बहुत बड़ा हूँ। इस भावना के साथ परिमाण भी उपयोग में लावे, कि तीन चार हाथ लम्बे अगल बगल फैले हुए मेरे सींग भी है, ऐसा मैं बहुत बड़ा लम्बा, चौड़ा, मोटा एक भैंसा हूँ, तथा ऐसा ही सोचने के बीच थोड़ा यह भी ध्यान बन जाय कि इस दरवाजे में तो केवल दो ही फिटकी चौड़ाई है मैं नहीं निकल पा रहा हूँ तो इस तरह का ख्याल बन जाने से वह खेद करेगा, हाय मैं अब कैसे निकलूंगा ? अरे ! तू तो आदमी है, खेद क्यों करता है ? खेद कैसे न करे, उपयोग में तो अपने को लम्बा चौड़ा मान लिया। सब उपयोग की ही तो बात है। कौन किसकी स्त्री है, कौन किसका पिता है, पर उपयोग में भर लिया कि मैं इनकी स्त्री हूँ, मैं इनका पिता हूँ, तो सारे जीवन भर वही वासना, वही संस्कार, वही चेष्टा बनी रहती है। भावना का बहुत प्रभाव है।

स्व–सद्भावना–ऐसे ही यदि कोई सतपुरूष अपने आप में यह भावना करे कि मैं तो शुद्ध ज्ञानब्रह्म हूँ, ज्ञानमात्र, ऐसी भावना को दृढ़ता से भाये, जहां यह भान ही न हो कि मैं मनुष्य हूँ, मेरे देह भी लगा है, मैं अमुक गांव का हूँ, अमुक जाति कुल का हूँ ऐसा कुछ भी भान न रहे, केवल मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसी ही उपयोग भर जाय तो उस काल में इस जीव के अपने आपके ज्ञान में ज्ञानरूप स्थिति हो जाती है। यही तो परमात्मतत्त्व प्रदीपक योग है। इसी को कहते हैं सोहं की भावना।

सोऽहं की भावना का उपक्रम—भैया ! ऐसा रंग जाय सोहं के भाव में कि सोहं सोहं की ही ध्वनि सुनाई दे। श्वास भी तो इसी तरह लिया जाता है। जब श्वास अन्दर को आता है तब आवाज निकलती है सो की और जब श्वास बाहर को फेंका जाता है तो आवाज निकलती है हं की। चाहे

नाक से श्वास लेकर और श्वास को बाहर निकालकर अभी देख लो। अब अपने को श्वास के साथ ही उस सोहं में रंग लो। जब श्वास को नाक से अन्दर ले जाया जा रहा हो उस समय सो का ध्यान करो, और जब श्वास को नाक से बाहर निकाला जा रहा हो तब हं का ध्यान करो। अब सोहं का ध्यान स्वर में मिला दो। इस सम्बंध में किस प्रकार उन्नति की जा रही है इसको कुछ प्रारम्भ से देखिये। पहिले यह जीव दासोहं दासोहं की भावना में रहा। हे प्रभो ! मैं तुम्हारा दास हूँ, सेवक हूँ। कोई बड़ा ईमानदार सेवक हो तो बहुत दिन सेवा करने के बाद मालिक का अति लाड़ला व निकटवर्ती हो जाता है। होना चाहिए ईमानदारी की सेवा। यों ही निश्छल भाव से प्रभु की उपासना हो, संसार का कुछ प्रयोजन न हो तो प्रभु की निकटता होती है।

बाह्य में असारता—क्या रक्खा है बाल बच्चों में, क्या रक्खा है मकान में ? यह सब तो एक झंझट का समुदाय है। आज की ही एक घटना सुनने में आयी है कि एक लड़का घर से निकला, १५, १६ क्लास पास था, वह रेल से कट कर मर गया। किसी का लड़का गुस्सा होकर भाग जाये और आये रात कि तीन बजे तो घर वालों को सारे नगर में ढूँढना पड़ता है। जरा खेद के साथ कहो, वाह रे कुटुम्ब के मजे किसको चाहते हो, किसकी चाह में प्रभुभक्ति की इतिश्री कर रहे हो। ये धन वैभव तो जड़ हैं। एक पत्थर से ही सिर लग जाय तो खून निकले, ऐसे ही पत्थर बतौर सारे वैभव हैं। रहा गुजारे का काम, उदरपूर्ति का काम, सो इसके लिए इतने धन वैभव की वहां आवश्यकता नहीं है। चींटी, कीड़ी भी उदयानुसार उदरपूर्ति कर लेते हैं। अपने अपने भावों के अनुसार सबको उदरपूर्ति का साधन रहता है। इतने विशाल वैभव के संचय की बुद्धि होना और इसके ही लिए प्रभु के आगे मंजीरा ढोकना, वाह रे भगत, किस असार तत्त्व के लिए प्रभुभिक्त की इतिश्री की जा रही है ?

पवित्र भावना का परिणाम—निश्चल भाव से, सांसारिक किसी प्रयोजन बिना प्रभु की उपासना हो और प्रभु की भी उपासना स्वरूपरूप में हो, चारित्र के रूप में नहीं। आदिनाथ स्वामी ने अपने जीवन में यों यों किया, महावीर तीर्थंकर ने यों यों किया, श्री राम भगवान् ने यों यों राज्य किया, व्यवहार किया, इत्यादि रूप से उनके चरित्र पर दृष्टि न दें, किंतु उन आत्मावों का जो सहजस्वरूप है, कारणस्वभाव है उस स्वभाव को निरखें। यदि इस परमार्थतत्त्व को निरखते जावोगे तो वहां न आदिनाथ, न महावीर, न राम कोई व्यक्ति भेद में उपस्थित न होंगे, किंतु वहां एक शुद्ध कारणब्रह्म चित् स्वरूप ही उपयोग में रहेगा। ऐसे स्वरूप की कोई करे तो निश्छल उपासना, वह फिर दासोहं के भेद से रहित होकर सोहं का अनुभव करने लगेगा।

श्वास श्वास में सोऽहं का मेल—अब सोहं के ज्ञान द्वारा अनुभव किया, किंतु थक गए। बहुत सा काम करके तो आप लोग भी थक जाते हैं ना। तो यह एक अपूर्व नया काम है, प्रथम अभ्यास है,

लो थक गए। बहुत प्रगति के साथ सोहं की भावना चली थी, इसमें थक गए तो अब कुछ व्यावहारिक प्रयोग करिये। पर यह आनन्द का काम था, सो इसे न छोड़िये। अब उतर आइए अपने श्वासों पर। दृष्टि में आने लगा उसे यह देह मायारूप है। अब इस माया से भी इस ढंग से बात करिये, इस ढंग से व्यवहार रखिये कि जल्दी छुट्टी मिलकर फिर उस परमार्थ उपवन में विहार शुरू हो जाय। श्वास लेने के साथ सो और उच्छवास के साथ हं की भावना लेते जाइए। अब फिर उस ही प्रगति में आ जाइए। अब श्वास में दृष्टि जाय और सोहं आ जाय दृष्टि में। अब अनुभव कीजिए यह मैं हूँ।

कारणब्रह्म में सोऽहं की उपासना—देखिये—यहां पर कार्यपरमात्मा को अब 'सो' मत मानिए, क्योंकि अन्तर की बात हो गयी इस दृष्टि में। कार्यपरमात्मा परक्षेत्र में स्थित है, परचतुष्टय है, उसमें आत्मस्थिति न बन पायेगी। उस सो को अब कारणब्रह्म के रूप में बदल लीजिए जो घट घट में अंत:प्रकाशमान् है। अब अपने आपमें इन सब पर्दों को फाड़कर चमड़ा, मांस, हड्डी, रागद्वेष, खण्डज्ञान, विकल्प, विचार इन सब पर्दों को पारकर, इनमें न अटककर अन्तर में अन्तस्तत्त्व को पहिचानिये उस शुद्ध सनातन चिद्ब्रह्म को अनुभूत कीजिए। अपने आप में ही अन्तर में प्रवेश करने में क्या हैरानी होती है ? उस चिद्ब्रह्म को लक्ष्य में लेकर कुछ भावना तो करिये सोहं की। मैं चित् स्वरूप हूँ, रागादिकरूप नहीं हूँ, यों देखिये, अन्य जगह दिमाग को मत ले जाइये।

चिन्ता क्यों?—भैया ! जब मैं रागादिकरूप भी नहीं हूँ तो अन्य सपने की बातों का तो कहना ही क्या है ? परद्रव्यों की बात कुछ भी ध्यान में मत रखिये। कुछ चिंता नहीं, वैभव से आप नहीं लगे हैं, किंतु आपके भाग्य से वैभव लगा हुआ है। वैभव में आप में आप नहीं पड़े हैं, किंतु आपके भाग्य में वैभव पड़ा हुआ है। वैभव के साथ भाग्य न जायेगा, किंतु भाग्य के साथ वैभव जायेगा। वह भाग्य आपका यहीं पर है। वैभव चाहे कहीं पड़ा हो, पर वैभव की जो मूल डोरी है वह तो आपके इस देह में ही मौजूद है, फिर चिन्ता किस बात की ?

आत्मस्थिति के अर्थ-कुछ क्षण को बाह्यअर्थों में उपयोग को न भटकाएं और अन्तर में निहारें कि मैं शुद्ध चित्स्वरूप हूँ। इस शुद्धतत्त्व की बार बार भावना के द्वारा उस ही में दृढ़ संस्कार बनाएं। जाननहार को यह बात सुगम होती है। यदि यह तत्त्व आज दुर्लभ है, इसकी थाह पाना भी किठन हो रहा है तो परेशानी या निराशा महसूस न करके इस ओर उत्साह बढ़ाये कि हम इस स्वरूप के ज्ञान का अभ्यास करने लगें, फिर तो यह अति सुगम हो जायेगा। इस आत्मतत्त्व की भावना के द्वारा जो आत्मसंस्कार प्राप्त हुआ है, उस संस्कार से फिर यह जीव आत्मा में आत्मा की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अपना शरणभूत अपने से गुम गया था, निकट ही पर दृष्टि फेर ली थी, सो वह दूर ही रहा। जैसे आपके पीछे जो बैठा हो वह तो आपके लिए कोसों दूर है। जब मिल गया उसे

अपना नाथ तो उसके दर्शन पाकर बस यह कृतकृत्य और प्रसन्न हो जाता है।

श्लोक 29

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभस्थानमात्मनः।।२९।।

वास्तविक भय का स्थान-पूर्व श्लोक में कारणपरमात्मतत्त्व की भावना का वर्णन था। उस वर्णन को सुनकर किन्हीं भाईयों को ऐसा लग सकता है कि वह तो बड़ी कठिन और भय वाली बात है। हमें तो सीधा सुखदाई यह घर का रहना ही लग रहा है। कहां का दंदफंद, अकेले रहो, सबसे विविक्त सोचो, कुटुम्ब का परिहार करो, ये क्या आफतें हैं ? कैसे गुजारे की बात हो ? बड़े भय की बात है, ऐसे भव की आशंका होने पर आचार्यदेव यह शिक्षा दे रहे हैं कि अरे मूढ़ आत्मन् ! तुझे जिस जगह विश्वास लगा है कि यह मेरा सुखदायी है, उससे बढ़कर भय की चीज कोई दूसरी नहीं है। कोई नरक में पहुंचे और वहां रहे सद्बुद्धि, तो ठिकाने वाली अक्ल वहां उसकी समझ में आती है कि जिस कुटुम्ब के कारण, विषयसुख के कारण, मित्रों के कारण नाना पाप किए हैं उन पापों का यह फल मैं अकेले ही भोग रहा हूँ। अब वे कोई भी मदद देने वाले नहीं हैं, जो १०, २० की संख्या में मेरा मन बहलाते भी थे। यह मूढ़ आत्मा जिस जगह विश्वास बनाए हुए है उससे बढ़कर दुःख की चीज, भय की चीज और कुछ नहीं है।

समागम में लाभ की निराशा—भैया ! वैभव और परिवार से इतना ही तो सहारा होगा कि बनी बनायी दो रोटी मिल जायें और तन ढकने को दो कपड़े मिल जायें किंतु इतनी बात जब बड़ी कला के ढंग से, सांसारिक कला के ढंग से प्राप्त की जाती है तो चिंतावों का बोझा कितना लादा ? केवल दो रोटियों और दो कपड़े के निमित्त से चिंतावों का बोझ कितना लादा जाता है और उस बोझ का फल किसे भोगना पड़ेगा, इस ओर व्यामोही जीव की बुद्धि नहीं जाती। यश, कीर्ति, नामवरी की चाह इनसे क्या लाभ होगा ? इस जीवन में भी पाप का उदय आता है तो कोई साथ न देगा, उल्टा लोग हंसी करेंगे। हो गया इतना बड़ा, बड़ा बन गया, था रीता, अब यह हालत है। होने दो, जो बड़ा बनता है, बड़ा होता है उसके ईर्ष्यालु लोक में अवश्य होते हैं। कहां अपनी नामवरी चाहते हो ? जिनके लिए यश फैलाना चाहते हो वे स्वार्थवश कीर्ति भी गा लें, किंतु स्वार्थ में अन्तर तो अवश्य आयेगा तो उस काल में उतने ही वे अवगुण देखेंगे। जिनका जितना अधिक यश होगा, थोड़ी त्रुटि हो जाने पर उतना ही अधिक अपयश फैलेगा। कहां विश्वास बनाए हुए हो ?

भय और अभय के साधन—मोही पुरूष जहां विश्वासी बन रहे हैं वह तो है डर की चीज और जहां यह डर मानता है, जिस जगह से, पद से, स्थान से यह भय मानता है वह ही है अभय की चीज। वैराग्य, ज्ञान, सत्संग इनसे मोही को भय लगता है, किंतु अभय का स्थान यह ही है। अपना आचार और ज्ञान सही रहेगा तो लोग पूछाताछी करेंगे। अपना आचार और ज्ञान ही बिगड़ गया तो कोई पूछाताछी करने वाला नहीं है। रही एक धन की बात, सो वह धन तो मौत के लिए भी होता है। इस धन के पीछे तो प्राण चले जाते हैं। अनेक समाचार में सुन रक्खा होगा कि अमुक बुढ़िया का या अमुक पुरूष का रिश्तेदार लोग कुटुम्ब वाले या पास पड़ौस के लोग गला घोटकर सब कुछ छीन ले गए। तो यह धन तो इस पुरूष की मृत्यु के लिए भी है। इस धन का क्या विश्वास ?

विभूति का अज्ञात गमनागमन—नारियल का फल तो प्राय: बहुत से लोगों ने देखा होगा। बहुत ऊपर लगते हैं वे नारियल के फल, पर जो ऊपर का बक्कल है, वह इतना कठोर होता है कि लोढ़े से फोड़ो तो फूटता है। पत्थर पर पटको तो टूटता है, ऐसी कठिन नरेटी के भीतर नारियल में पानी डालने कौन जाता है ? उस नारियल में से पाव डेढ़ पाव पानी निकल आता है। लोग उसे पीते हैं। जैसे नारियल में पानी पता नहीं कहां से आ जाता है, इस ही प्रकार उदय ठीक होने पर पता नहीं कि योग्य सामग्री वैभव कहां से आ जाता है ? और कभी देखा होगा—हाथी कैथ खा ले और लीद में वह कैथ निकले तो वह कैथ यों देखने को मिलेगा कि उसमें किसी भी ओर छेद नहीं हुआ है और वह कैथ अन्दर से पूरा खोखला हो गया है। उसे उठाकर, धोकर उसका वज़न करो तो कोई तोला दो तोला का ही निकलेगा। तो पाव डेढ़ पाव कैथ के अन्दर का गूदा कहां से निकल गया है। न उसमें कहीं छिद्र दिखाई दे, न कहीं दरार दिखाई दे, फिर भी वह गूदा कहां से निकल गया इसका कुछ पता नहीं चलता। इसी तरह उदय प्रतिकूल होने पर वर्षों की संचित लक्ष्मी भी कहां से निकल जाती है, इसका कुछ पता नहीं पड़ता।

विश्वास्य और अविश्वास्य तत्त्व के अनुभव के लिए प्रेरणा—भैया ! यहां कौन विश्वास के योग्य है ? बाह्यसमागम तो अनुकूल उदय होने पर सहज मिल जाते हैं और प्रतिकूल उदय होने पर टल जाते हैं। श्रीराम, श्रीसीता जैसी प्रीति और सौभाग्य का उदाहरण और क्या माना जाय ? परन्तु उदय प्रतिकूल हुआ तो सीता जी को अकेले जंगल में भटकना पड़ा। किस पर विश्वास करते हो कि ये मेरे जन्मभर के सहायक हैं, कौन से विषयसाधनों में दृष्टि लगाये हो कि यह वैभव यह विषयसाधन मेरे को सुख देने वाले है। बाह्य के समागम सब भय के स्थान हैं, किंतु जिससे डर खा रहे हो वही निर्भयता का स्थान है। अनुभव करके देख लो—जिस काल चेतन, अचेतन समस्त परिग्रहों का विकल्प तोड़कर अपने आपमें निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप निजप्रकाश का अनुभव किया जा रहा हो उस काल में अपने आपके अन्तर में से जो आनन्द झरता है उस आनन्द को देखो और विषयसुखों में

तृष्णा करने से जो विपदायें आती हैं उन विपदाओं को नजर में लो, कितना अन्तर है ? पर जो जहां का कीड़ा है उसका वहां भी मन लगता है।

विषयव्यामोही की रूचिपर एक दृष्टांत—दो सखियां थीं ? एक थी धीमर की लड़की और एक थी मालिन की लड़की। बचपन में वे दोनों एक साथ खेला करती थीं। विवाह हो गया उनका जुदे-जुदे नगरों में। मालिन की लड़की का विवाह हुआ शहर में और ढीमर की लड़की का विवाह हो गया किसी गांव में। सो मालिन तो फूलों का हार बनाना, फूलों की शैया सजाना ऐसा ही काम करे और यह धीमर की लड़की मछली मारे, बेचे और खाये यही पेशा करे। एक बार धीमर की लड़की शहर में पहुंच गयी मछली का टोकरा लेकर मछली बेचने के लिए। शाम हो गयी तो सोचा कि आज सहेली के घर रह जायें। पहुंची सहेली के घर। बड़ा आदर किया उसने। खाना खिलाया, रात के ९ बज गए। बहुत बढ़िया पलंग बिछाया और उसे फूलों की पंखुड़ियों से खूब सजाया।

जब धीमर की लड़की सोने लगी तो अब धीमर की लड़की को वहां नींद न आये, मारे फूलों की गंध के इधर उधर करवटें बदले। मालिन की लड़की ने पूछा—सहेली ! तुम्हें नींद क्यों नहीं आती है ? सो धीमर की लड़की कहती है कि सहेली क्या बताऊँ, यहां तुमने फूलों की पंखुड़ियां बिछा रक्खी हैं इनकी बदबू के मारे सिर फटा जा रहा है। इन्हें अलग कर दो तो शायद नींद आ जाय। फूलों को अलग कर दिया, फिर भी नींद न आए, क्योंकि वह गंध तो उन कपड़ों में बस गयी थी और कमरे में भी फैल गयी थी। फिर मालिन की लड़की ने पूछा कि सहेली ! तुम्हें नींद क्यों नहीं आती है ? तो बोली—अरे बदबू तो कमरे भर में भर गयी है, नींद कहां से आये ? एक काम करो-हमारा जो मछलियों का टोकरा है उस हमारे सिरहाने रख दो और उसमें पानी के छींटे डाल दो। उसने वैसा ही किया। जब मछलियों की दुर्गन्ध सारे कमरे में फैली तब उस बेचारी धीमर की लड़की को नींद आयी। ऐसे ही रात दिन पंचेन्द्रिय के विषयों की धुन रहती है जिन मनुष्यों को, उन मनुष्यों को ज्ञान वैराग्य सोहं, अहं, अंतस्तत्त्व की बात कहां से सुहाये ?

योग्यतानुसार परिणमन—भैया ! बैठ जायें विषयव्यामोही मनुष्य मन्दिर में तो इससे क्या, बैठ जायें किसी धर्मस्थान में तो उससे क्या, परिणमन तो वही चलेगा जैसी कि योग्यता होगी। एक बार बादशाह कहीं जा रहा था तो उसे एक गडरिये की लड़की दिखी, जो कि रूपवान् थी, वह उस राजा को सुहा गयी और उसी से ही विवाह करवा लिया। अब वह गडरिये की लड़की राजमहल में पहुंच गयी। उसने वहां बड़ा हाल खूब सज़ा हुआ देखा, जिसमें अनेक चित्र थे, नाना तरह के फोटो थे, वीरों के फोटो, ऐतिहासिक पुरूषों के फोटो, वर्तमान महापुरूषों के फोटो तथा भगवान इत्यादि के फोटो वहां पर लगे हुए थे। वह गडरिये की लड़की सभी चित्रों को देखती जाये, पर उसका कहीं

मन न भरा। यह राम की फोटो है, होगी। यह शिवाजी की फोटो है, होगी। बड़े-बड़े पुरूषों की फोटो देखी, पर किसी पर दृष्टि न थमीं। एक फोटो में दो बकरियां बड़ी सुन्दर बनी हुई थीं उसको देखकर उसकी दृष्टि थम गई और टिक्टिक् की आवाज करने लगी। तो गडरिये की लड़की को बड़े शोभा वाले महल में बैठाल दिया तो भी अपनी धुन के अनुसार ही, वासना के अनुसार ही अपनी प्रवृत्ति का गयी। रात दिन मोह विषय सुख ममता ही में बसने वाले पुरूष मूढ़ आत्मा व्यामोही जन, मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित अपने मान हो बढ़ाने का कारणभूत जो मन्दिर बना रखा है, धर्मस्थान है वहां पर भी रहे तो भी उसकी प्रकृति में वह स्थान अन्तर कहां से डाल देगा ? वह तो वहां भी विषयों की बात ही सोचेगा।

क्लेश साधनों से हटकर आत्महित की ओर—कितने क्लेश हैं परिग्रह में, विषयों के साधन जुटाने में, किंतु इन क्लेशों को स्वयं जानते हुए भी होंगे तो भी उसको विवेक में नहीं ला सकते। किसे नहीं मालूम कि कितने झंझट हैं, पर फिर भी उसे उस झंझट में ही अपना जीवन दिखता है कि इनको छोड़कर या इनसे राग कम करके हम और कहां पलेंगे, कहां पुषेंगे ? भैया ! क्लेशसाधनों से हटकर आत्महित की ओर आवो। जहां हित है, सुख है वह है ज्ञान और वैराग्य। जहां स्वस्थ चित्त होना, ज्ञान की ओर उन्मुखता हो उसके आनन्द को कौन प्राप्त कर सकता है ? वह ज्ञान क्या है इस ही बात का वर्णन कल आया था। कैसी भावना करके यह जीव उस ज्ञानस्वरूप पर पहुंचता है वह भावना है सोहं की। वह मैं हूँ। मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान। यह कारणपरमात्मतत्त्व की दृष्टि रखकर समझना। नहीं है मुझमें भगवान् जैसा स्वरूप, तो कैसा भी यत्न करें मुझमें भगवत्ता प्रकट हो ही नहीं सकती।

ज्ञान और वैराग्य की अविनाभाविता—ज्ञान और वैराग्य परमार्थ से दो बातें अलग-अलग नहीं हैं किंतु मर्म का जिन्हें परिचय नहीं है वे यों ही जानते हैं कि ज्ञान बात और होती है, वैराग्य बात और होती है। यहां सूक्ष्म विवेचन भी नहीं करना है और मूढ़ दृष्टि भी नहीं रखना है। अभेद भाव का सम्बंध बनाकर निर्णय करना है। लोग यों जानते हैं कि घर त्याग दिया, चीजें छोड़ दीं तो लो वैराग्य हो गया। घर त्याग दिया तो राग लग गया और तरह का। कोई एक खाने की चीज छोड़ दे तो तृष्णा लग गयी दूसरी चीज के खाने की। नमक छोड़ दिया तो अब मीठा और मुनक्का किसमिस होना ही चाहिए, ऐसा परिणाम रक्खे तो अभी राग कहां छूटा, नमक ही छूटा। या परिवार छोड़ दिया तो जिस समागम में रहते हैं वहां ही मैं, मैं, मेरा, मेरा चलता रहता है। जो भी वस्तुवें कपड़े लत्ते जो भी पास में हैं उनकी संभाल, उनकी ममता, उनका संचय करने की ही भावना हो, दूसरों को उपयोगी वस्तु देने की जहां भावना न रहती हो, वहां घर छोड़ने से क्या सुख पाया ?

वैराग्य अलग चीज नहीं है, ज्ञान का रूप वैराग्य है। ज्ञान को छोड़कर वैराग्य कहीं अलग नहीं रक्खा है। वैराग्य का अर्थ है रागभाव का न रहना। अच्छा रागभाव न रहा तो रहा क्या ? ज्ञान इसका स्वरूप है। ज्ञान कभी टलता नहीं। तो इस ज्ञान का ज्ञानरूप रह जाना यह ही तो वैराग्य है। मूल में जब तक इस मर्म को पाया जाय तब तक वैराग्य की दशा में प्रगति नहीं हो सकती है। ज्ञान और वैराग्य में वह शक्ति है जिस शक्ति के प्रसाद से किसी भी स्थिति में रहकर बंधन नहीं होता है।

वैराग्यसहित ज्ञानकला—ज्ञानी विरक्त पुरूष उदयवश कदाचित् विषयों को सेवता हुआ भी सेवक नहीं कहलाता है। भोगता हुआ भी भोक्ता नहीं कहलाता है। किसी लड़के को जबरदस्ती मारकर मुख कौर देकर खिलायें तो क्या बालक खाने वाला कहला सकता है ? जब खाने में उपयोग ही नहीं है, कुछ भी चाह नहीं है, जबरदस्ती का खाना है तो वह भोग क्या कहलायेगा ? ज्ञानी पुरूष को शुद्ध ज्ञानस्वभाव में रमने का ऐसा दृढ़ चित्त है कि वह उस ही ओर झुका रहता है। इतने पर भी कर्मोदय की कोई ऐसी प्रेरणा होती है कि किन्हीं कार्यों में पड़ना भी पड़े, भोगना भी पड़े तो भी सब गले पड़े की बात है। वह भोगता नहीं है। वह भोगता हुआ भी नहीं भोगता है, यह बात सुनने में तो सरल लगती है पर वह कौनसा परिणाम है जिस परिणाम के होने पर इसकी भोगने की और मन, वचन, काय की क्रियाएं नहीं चलती, किंतु प्रेरणावश चलना पड़ता है। ऐसा शुद्ध ज्ञान और वैराग्य का जो परिणाम है वह तो आया नहीं और भोगता हुआ भी भोगता नहीं है, हम भी भोगते हैं, हमें भी क्या दोष होगा ? भोग तो कर्मों की निर्जरा के लिए हैं। तो कहीं नाममात्र के जैन होने से कर्मों के बन्धन में फर्क नहीं आ जाता है, किंतु जिस कला से, जिस कर्तव्य से, जिस ज्ञान और वैराग्य से कर्मों के बन्धन में अन्तर आया करता है वह कला आये तो बन्धन नहीं होता। यह मूढ़ आत्मा जिससे डरता है, जिस तत्त्व से भय खाता है वही तो अभयपद है।

प्राणी की स्वार्थवृत्ति—जगत् में किसका विश्वास हो ? जो भी अनुकूल होता है वह अपनी ही किसी भावना से, वासना से हुआ करता है वस्तुत: कोई किसी पर न्यौछावर नहीं होता है। गरज पड़े कुछ हो। परसों की बात है जंगल में कुटिया की छत पर बैठा हुआ मैं देख रहा था कि एक गिलहरी ४ अंगुल का एक रोटी का टुकड़ा लिए जा रही थी। चार पाँच चिड़िया उस टुकड़े को छीनने के लिए उसके पास आती थीं। वह गिलहरी उस रोटी के टुकड़े को लिए हुए भागती फिरे सारे बाग़ में घूम आई, आपत्ति न टले। फिर वह गिलहरी हमसे डेढ़ हाथ दूर पर वह रोटी का टुकड़ा लिए हुए बैठ गयी। अब वहां चिड़िया कैसे आएं ? फिर वहां दोनों हाथों से उठा उठाकर उस गिलहरी ने आनन्द से रोटी खायी। फिर कल के दिन उन ही गिलहरीयों को अपने पास बुलाया तो कोई भी गिलहरी पास नहीं आयी। जब उसे किसी अभय स्थान में रोटी खाना था तो हमारे पास ही बैठकर नोच-

नोचकर रोटी खा ली।

सोऽहं की भावना में अभयत्व का समर्थन—भैया ! जब कोई स्वार्थ होता है और जहां देखते हैं कि इस स्थान में हम अभयपूर्वक रह जायेंगे, सो वे रह लेते हैं, लेकिन किसी के प्रति क्या विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि वह मेरा पूरा विश्वासी ही है ? नहीं। तो यहां यह बताया है कि मूढ़ आत्मा जहां विश्वास बनाये है वही भय का आस्पद है और जिससे भयभीत है उसका अभय स्थान उससे अतिरिक्त अन्य नहीं है। जिससे यह मोही आत्मा भय खाता है, उस ही तत्त्व को कल बताया गया था। सोहं की भावना में वह तत्त्व आया था। यहां उस ही के समर्थन में व्यावहारिक बात कही। अब आगे उस ही तत्त्व की प्राप्ति के उपाय में वर्णन चलेगा।

अभयपद के उपाय के वर्णन का उपक्रम—एक मात्र शरणभूत निजपरम स्वभाव का अनुभव ही अभयपद है और इस तत्त्व की भावना से ही आत्मा में स्थिति होती है, अनाकुलता प्रकट होती है। इस तत्त्व से मोहीजन भय खाते हैं। इसकी चर्चा भी सुनने को उनका मन नहीं करता, इसके प्रयोग की तो बात दूर ही रहे, किंतु जिस तत्त्व से मूढ़ घबड़ाते है, भयभीत होते हैं वह तत्त्व अभयपद है और जिस तत्त्व में विश्वास करते हैं मोही जीव वही इसका विपदा का स्थान है। वह पद है, जो अभय अनाकुल बनता है, चैतन्यस्वभाव। वह मिले कैसे ? इसके उपाय में पूज्यपाद स्वामी अगले श्लोक में कह रहे हैं—

श्लोक 30

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।

यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मन:।।३०।।

इन्द्रियसंयम की प्रथम आवश्यकता—समस्त इन्द्रियों को संयत करके परमविश्राम में आकर इस अन्तरात्मा के द्वारा क्षणमात्र जो कुछ दिखता है, इस ज्ञानी पुरूष के जो समझ में आता है वही परमात्मा का तत्त्व है। इस परमतत्त्व की प्राप्ति के उपाय में सर्वप्रथम यह बात कही जा रही है कि समस्त इन्द्रियों को संयत करें, वश करें। पंचेन्द्रिय के विषयों में यह सारा जगत विपन्न हो रहा है।

स्पर्शनेन्द्रियविषय का परिणाम—देखो एक स्पर्शन भाव के विषय का लोभी बनकर हाथी जैसा विशाल बलवान् जानवर मनुष्य के वश हो जाता है। हाथी पकड़ने वाले लोग जंगल में गड्ढा खोदते हैं, उस गड्ढे पर बांस की पंचें बिछाकर उस पर एक सुन्दर झूठी हथिनी बनाते हैं और ५०, ६० हाथ दूर पर उस हथिनी के पास दौड़ता हुआ हाथी आ रहा है ऐसी आकृति का हाथी बनाते हैं। जब जंगल का हाथी उस हथिनी के विषय की कामना से दौड़कर आता है, सामने दूसरा हाथी दिखता है, इस कारण और भी तेजी से आता है। उन पंचों पर पैर रक्खा कि वे बांस टूट जाते हैं और हाथी गड्ढे में गिर जाता है। कई दिन तक भूखा वहीं पड़ा रहता है, शिथिल हो जाता है। फिर धीरे से रास्ता निकालकर अंकुश से वश करके हाथी को मनुष्य अपने अधीन

कर लेते हैं।

रसनेन्द्रियविषय का परिणाम—रसना इन्द्रिय के विषय के लोभ में आकर ये मछलियां फंस जाया करती हैं। थोड़े मांस के लोभ में आकर कांटे में अपने कंठ को फँसाकर प्राण गंवा देती है। ढीमर लोग बांस में डोर लगाते हैं और डोर के अंत में कोई कांटा लगाते हैं और उसमें कुछ केचुवा वगैरह उस पर चिपका देते हैं, उसे पानी में छोड़ देते हैं। मछली उस मांस के लोभ में आकर मुँह पसारकर उसे खा जाती है, उसमें लगा हुआ कांटा कंठ में छिद जाता है, प्राण गंवा देती है।

घ्राणेन्द्रियविषय का परिणाम—घ्राणेन्द्रिय का विषय देखो—भँवरा शाम को कमल के फूल में बैठ गया सुगंध के लोभ से, अब शाम को कमल बंद हो जाया करता है। सो या तो उस कमल में पड़े-पड़े श्वास रूक जाने से गुजर जाता है, या कोई जानवर हाथी आदिक आये और उस फूल को चबा डाले तो यों मर जाता है। एक घ्राणेन्द्रिय के विषय के लोभ में उस भँवरे ने अपने प्राण गंवा दिए।

चक्षुरिन्द्रियविषय का परिणाम—चक्षुरिन्द्रिय के विषयों की बात तो सामने है। जलते दीपक को देखो उस पर पतंगे गिरते हैं और वे मर जाया करते हैं। वे देखते रहते हैं दूसरे मरे हुए पतंगों को, फिर भी उनकी संज्ञा में ऐसी धारणा है कि वे भी उस ही लौ पर गिरते हैं और मर जाते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय के विषय का परिणाम—श्रोत्रइन्द्रिय के वश में सांप पकड़े जाते हैं, हिरण पकड़े जाते हैं। इन जीवों को राग का बड़ा शौक है। सपेरे लोग अपना बाजा बजाते हैं और सांप फन फैलाकर उठकर उस गाने को बड़े चाव से सुनते हैं। सपेरा जानबूझकर राग को जरा बेसुरीला कर देता हे। एक अंगुलि भर ही अटपट बैठाने की ही तो जरूरत है, वह बीनबाजा एक सेकेण्ड के कई हिस्से भाग प्रमाण समय में बेसुरीला राग हो जाता है, तो सांप गुस्से में आकर उस बाजे पर फन मार देता है, उसे नहीं सुहाता है वह बेसुरीला संगीत। इतना शौकीन होता है सांप संगीत का। तो सपेरे लोग संगीत सुनाकर सांप को मोहित करके पकड़ लेते हैं, वश कर लेते हैं, यों ही हिरण पकड़े जाते हैं।

यों एक-एक इन्द्रिय के विषय में आकर यह जीव प्राण गंवा देता है और यह मनुष्य पंचेन्द्रिय के वश पड़ा है तब क्या हालत है ? यहां सामर्थ्य है, पुण्य का उदय है, तत्काल सज़ा नहीं मिलती है सो उस ही व्यामोह में पड़ा हुआ है पर एकदम ही इसका फल सामने आ जाता है। जरूरत है इस बात की कि हम इन्द्रिय के वश न रहें, हमारे वश इन्द्रियां रहें। यह सब अपनी रूचि और भवितव्य की बात है।

गृहस्थधर्म में प्रथम कर्तव्य—व्यावहारिक धर्म दो प्रकार के बताये गये हैं—एक गृहस्थ धर्म और एक साधुधर्म। साधुधर्म तो अगर निभ जाय किसी से तो वह उत्कृष्ट है ही। वहां तो आनन्द के झरने ही सदा झरते हैं, किंतु गृहस्थ धर्म भी कोई विधिपूर्वक पालन करे तो उसमें भी कम आनन्द नहीं है अथवा धर्मपालन वहां भी बहुत है, पर करे विधि से तो। पहिले बात तो यह है कि जो समागम मिला है, वैभव कुटुम्ब परिवार मित्रजन जो भी मिला है उसको यों जानें कि यह कभी न कभी बिछुड़ेगा, सदा रहने वाला नहीं है, पहिली बात तो यह गृहस्थ के मन में रहनी चाहिए। अब अपनी-अपनी सोच लो कि हम कभी सोचते हैं या नहीं। जो मिले हैं धन वैभव परिवार वे सब शीघ्र बिछुड़ने वाले हैं। ऐसी मन में याद आती है या नहीं ? फिर ध्यान दो, सोने वाले भाई जग जावें। जो मिला है धन वैभव परिवार वे सब शीघ्र बिछुड़ने वाले हैं, ऐसी मन में याद आती है

या नहीं। यदि नहीं आती है तो फिर कहीं शिकायत मत करो अपने प्रभु से, मंदिर में या अन्य किसी के पास कि मुझे बड़ा क्लेश है। अरे क्लेश के उपाय तो बड़े किये जा रहे हैं, फिर शिकायत किस बात की ? शिकायत तो उसकी भली लगती है जो बेकसूर पीटा जाय। यदि यह भाव भरा हुआ है कि जो हमें मिला है वह मेरा बड़प्पन है, मैं बड़ा हूँ, मुझे तो मिलना ही था और इससे ही मेरा जीवन है, और मेरे से कभी अलग हो ही नहीं सकता। मैं तो बड़ा हूँ, इस भाव में संकट बसे हुए हैं पहिली बात तो गृहस्थ में यह आनी चाहिए। प्राप्त समागम नियम से शीघ्र बिछुड़ेगा, ऐसी याद होनी चाहिए।

गृहस्थ का द्वितीय कर्तव्य—दूसरी बात गृहस्थ के लिए परिग्रह का प्रमाण है। यह अत्यन्त आवश्यक है शांति के अर्थ, क्योंकि परिग्रह जोड़ना संचय करना इसकी तो कोई सीमा नहीं है, फिर आराम कहां मिलेगा ? लाख हो गए तो १० लाख की चाह है, १० लाख हो गए तो ५० लाख की चाह होगी, ५० लाख हो गए तो करोड़ की चाह होगी। उसकी कहां तक हद है और जब परिग्रह परिमाण नहीं है तो उस तृष्णा में उसे आकुलता ही मिलेगी, शांति न मिलेगी, बल्कि बनी बनाई रोटी भी सुख से नहीं खा सकेगा। तृष्णा में वर्तमान भोग भी सुख से नहीं भोगा जा सकता है।

परिग्रहपरिमाणव्रत में कई पद्धतियों में शांतिलाभ—परिग्रह के परिमाण में इतनी बात आ जाती है कि जितने का अपना परिमाण किया हो, १०, २०, ५० हजार का जो भी किया हो उससे अधिक धनी कोई दूसरा देखने में आए तो उसे बड़ा न मानना और उस पर आश्चर्य न करना। वहां यह समझना कि यह इतना अधिक कीचड़ में चिपटा है इस दृष्टि से निहारना उसे जो अपने से अधिक धनी हो। परिग्रहपरिमाण में ही से सब बातें गर्भित है। परिग्रहपरिमाण में ही यह बात भी आ जाती है कि उसमें जो आय हो उसके अन्दर ही अपना बटवारा करना और गुजारा करके विभाग बनाने पर धर्म और दान को किसी भी परिस्थिति में स्थगित न करना, चाहे कैसी ही हालत हो पर ज्ञानधर्म का पालन करें और पाये हुए के मुताबिक विभाग के अनुसार उस ही में गुजारा बनायें, यह काम है गृहस्थ का दूसरा।

ज्ञान साधना का कर्तव्य—अब आगे चलिए अब ज्ञानमार्ग में वह बढ़े, धन से भी अधिक लोभ ज्ञान का करे। जैसे धन में यह देखा करते हैं—अब इतना आ गया, अब इतना हमारे पास है, अब इतना और इसमें जोड़ना है ऐसे ही ज्ञान में देखें कि मैंने इतनी तो तरक्की की, इतना तो ज्ञान पाया, अब और इससे अधिक चाहिए। धन की तृष्णा न होकर यदि ज्ञान की तृष्णा हो जाय तो यह लाभदायक बात होगी। ज्ञानसाधना में अब गृहस्थ विशेष लगे। इस ज्ञान साधना के उद्यम में वे सब बातें गर्भित हैं—सम्यक्त्व होना, सच्चा श्रद्धान बनना ये सब बातें उस ही से सम्बंधित हैं, यह तीसरी बात है।

गृहस्थ का अहिंसा व्रत—चौथा उद्यम होना चाहिए—अणुव्रतों का पालन। व्रतों का पालन आत्महित की दृष्टि से होता है। अहिंसाव्रत, त्रस हिंसा का त्याग और स्थावर की वृथा हिंसा न करना यही तो अणुव्रत है, यह व्रत इन्द्रियों को वश में करने वाला ही पाल सकता है। आज के समय में यदि परसेन्ट के हिसाब से पूछा जाय कि मांसाहारी मनुष्य कितने हैं, तो परसेन्ट तो आयेगा नहीं, प्रति

हजार में शायद आ जायेगा एक प्रति हजार मनुष्यों में एक मनुष्य आज की इस परिचित दुनिया में अमांसाहारी होगा। यहां समुदाय जरा अच्छा बैठा है, आप हम जिस गोष्ठी में रहते हैं मांस से बहुत दूर रहते हैं। यहां सुनने में तो ऐसा लगता होगा कि एक प्रतिहजार कह रहे हैं, यहां तो सारे अमांसाहारी दिख रहे हैं, पर दुनिया की निगाह करके देखो-अपने ही देश में देख लो पंजाब, बंगाल, मद्रास इत्यादि कितने लोग मांसाहारी हैं और सफर करते हुए में अगर बहुत लम्बे चले जावो तो देखो यह बात बहुत अधिक फिट बैठ जायेगी कि ठीक है, एक प्रति हजार लोग अहिंसा अणुव्रत पालते हैं। इन्द्रियों को संयत करें तो अणुव्रतों का पालना हो सकता है। अहिंसक वृत्ति से रहें। गृहस्थ एक संकल्पी हिंसा का त्यागी नियम से होता है और शेष आरम्भी उद्यमी विरोधी हिंसावों का त्याग भी यथापद होता है, पर पालते हैं वे भी अहिंसा व्रत।

गृहस्थ का सत्य एवं अचौर्यव्रत—सत्य अणुव्रत, सच बोलना, किसी की निन्दा न करना, चुगली न करना, पीठ पीछे दोष न करना, अहितकारी वचन न बोलना ये सब गृहस्थ के कर्तव्य हैं। करे कोई गृहस्थ अपने व्यवहार में ऐसी वृत्ति तो वह स्वयं शांति का अनुभव करेगा। यह होड़ किससे लगाते हो ? किसी भले से होड़ लगावो तो वह अच्छी है। पर यहां तो प्राय: सभी मोही है, तृष्णावान् हैं, मिथ्याभाव कर भरे हैं, होड़ लगावो तो किसी ज्ञानी संत की या प्रभुवर की। मैं भी ऐसा बनूंगा, होऊंगा। इस संसार में बाहर में किसकी होड़ लगाते जा रहे हो ? न वैभव हुआ ज्यादा तो क्या हर्ज है ? वैभव ज्यादा हो तो छोड़कर जाना, कम हो तो छोड़कर जाना, रही सही जिन्दगी को संतोष और शांति से बिना लेना, यह सामने काम बड़ा है, संचय का काम नहीं है। इस सद्गृहस्थ के परवस्तु के चुराने का भाव भी नहीं होता है। जिसको ज्ञान की प्राप्ति होती है उसको दूसरी चीजों के जोड़ने का परिणाम भी नहीं होता है। वह अणुव्रत का पालक होता है।

गृहस्थ का स्वदारसंतोष व्रत—गृहस्थावस्था एक अशक्त अवस्था है। इस अवस्था में साधु के सिंहवृत्ति की नाई निर्भय और स्वतंत्र रह सके यह कठिन बात है। इसी कारण गृहस्थ ने विवाह किया है जिससे कि वे संसार की समस्त परनारियों के विषय में मलिन भाव करने से बच जायें। उसमें भी एक धर्मधारण का अभिप्राय है। रहते हैं वे स्वदारव्रत से।

स्वयं का कर्तव्य—यहां यह चर्चा चल रही है कि गृहस्थ धर्म में भी सुख और शांति कैसे प्राप्त हो ? करे बिना क्या होगा ? घर में कभी बीच की छत गिर जाय, आँगन में कूड़ा गिर जाय तो कोई दूसरा उस कूड़े को साफ करने न आयेगा, आपको ही साफ करना होगा या प्रबंध आपको ही करना होगा। अपने आप में जो अहित और विषयकषायों की विपत्तियां ढाई हुई हैं इस कूड़े कचड़े को कोई दूसरा मित्र अथवा प्रभु साफ करने न आ जायेगा। हम ही को सफाई करनी होगी। यों इन आचारों का पालन करो।

सद्वृत्ति और सहज भान—इन आचारों का पालन करने में सामर्थ्य बने, उत्साह बने, इसके लिए प्रतिदिन षट्कर्तव्य करें—देवपूजा, गुरूवों की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। ऐसी सद्वृत्ति से गृहस्थ रहे तो उसका यह व्यवहारधर्म भी इसकी शांति के लिए बहुत कुछ साधक होगा। यों जो भी आत्महित करना चाहे उसको इन्द्रियों का वश में करना यह प्रथम आवश्यक होता है। इन्द्रिय के विषयों में इतना तो समय गंवाया, कुछ लाभ मिला, कुछ हाथ रहा, कुछ ज्ञान बड़ा, कुछ बल बढ़ा ? कोई हित का साधन बढ़ा हो तो बतलावो। मिला कुछ ही नहीं, खोया सब कुछ है। तो अब कुछ क्षण उन समस्त इन्द्रियों के विषयों का विकल्प तोड़कर अपने आप में स्तमित होकर, परमविश्रांत बनकर जरा देखो तो स्वयं सहज अपने आप में क्या भान होता है।

अनात्मतत्त्व का असहयोग—भैया ! धर्मामृतपान के प्रकरण में समस्त परद्रव्यों को अपने उपयोग से हटा दें। जो कुछ भी इस ज्ञान में आये तुरन्त कहो-जावो हम ज्ञान में नहीं चाहते है। मैं तो कुछ भी न जानूं ऐसी स्थिति बनाने का दृढ़ संकल्प होकर बैठा हूँ। जावो जी तुम भी। परतत्त्वों को अपने ज्ञान में न लो। ऐसी स्थिति में एक परमविश्राम मिलेगा। उस विश्राम में अपने आप ही सहज अपने आपमें जो कुछ भान होगा वह होगा ज्ञानस्वभाव का भान। उस ज्ञानस्वभाव के भान के समय जो अनाकुल अवस्था का अनुभव होगा बस ऐसा ज्ञानानन्द मात्र ही तो परमात्मतत्त्व है, जिस तत्त्व के अनुभव से सकल बाधाएं टल जाती हैं किताब में से देखना है पेज 17 परमतत्त्व की भक्ति के प्रसाद से कर्मकलंक टले और उन्हें मुक्ति प्राप्त हई।

सहज तेज—यह मैं शुद्ध सहज परमात्मतत्त्व हूँ जिस तेज में लीन होकर अनेक संत पुरूषों ने निर्वाण प्राप्त किया। जो तेज समस्त रागादिक विकारों से परे है, जिस तेज में ऐसी अपूर्व सामर्थ्य है कि अनेक भव के संचित कर्म भी इसके आगे टिक नहीं सकते। ऐसे परम तेजोमय परमात्मतत्त्व का भान इस अन्तरात्मा के होगा।

सत्य का आग्रह और परमात्मतत्त्व का दर्शन—देखो भैया ! इन्द्रिय को वश न करे और इन्द्रियों की आज्ञा में चले तो थोड़ी देर बाद फिर स्वयं को ही पछताना पड़ता है। कोई अधिक पछताये, कोई कम पछताए, पर प्राय: इन्द्रियविषयसाधन के बाद कुछ न कुछ पछतावा की बात आ जाती है। और कोई बड़ा ही मूर्ख हो, मूढ़ हो, मोही हो, तो वह पछतावे की स्थिति से भी अधिक बुरी स्थिति में आ जाय, तिस पर भी उसे पछतावे की बुद्धि नहीं होती है। ये समस्त इन्द्रियविषय इस जीव को बरबाद करने के ही हेतु हैं। इस कारण सब इन्द्रियों को संयत करके, वश करके, नहीं देखना है कुछ, आंखें बंद किए बैठे हैं। नहीं सुनना है कुछ, विमुख होकर बैठे हैं। नहीं सूंघना है, उस ओर उपयोग नहीं दे रहे हैं। नहीं चखना है कुछ, नहीं छूना है कुछ। अपने आपमें अपने आपको ही दर्श पर्श करेंगे ऐसे संकल्प के साथ सर्वइन्द्रियों को संयत कर दें, विषयों को रोक दें तो वहां इस जीव

को क्षण भर जो तत्त्व दिखेगा बस वही तत्त्व परमात्मा का मर्म है, परमात्मा का स्वरूप है। ऐसा इस परमात्मातत्त्व के बारे में संकेत किया गया है।

इन्द्रियविजय के उपाय के वर्णन का संकल्प—सोहं की भावना में जिस शरणभूत कारणपरमात्मतत्त्व का लक्ष्य किया जाता है उस तत्त्व की प्राप्ति का उपाय क्या है ? इस सम्बंध में यह वर्णन चल रहा है। समस्त इन्द्रियों को संयत करना सर्वप्रथम काम है। ये हतक इन्द्रिय जिसे कि लोभ क्षोभ में आकर कहते हैं हत्यारी इन्द्रियां, ये जीव का अहित करने वाली हैं। इन इन्द्रियों को अहितकारी जानकर संयत करने का उद्यमी पुरूष क्या कार्य करता है ? इस सम्बंध में उपाय कहा जा रहा है, बड़े ध्यान से इसका उपाय सुनिये जो कि अमोघ उपाय है।

इन्द्रियविषयोपभोग में त्रिगुट्ट का सहयोग—सर्वप्रथम यह जानों कि ये इन्द्रियां जब उद्दण्ड होती हैं तब अपने विषयों में इस आत्मा को लगाकर बरबाद करने पर तुली हुई होती हैं, उस समय स्थिति क्या होती है ? आकुलता होती है, यह तो फलित बात है, पर हो क्या रहा है इस प्रसंग में ? तीन बातें समझनी हैं। द्रव्येन्द्रिय की प्रवृत्ति, भावेन्द्रिय की वृत्ति और विषयों का संग। किसी भी इन्द्रिय का विषय भोगा जा रहा हो, उसमें तीन बातें आया करती हैं—विषयों का संग होना, द्रव्येन्द्रिय की प्रवृत्ति होना और अन्तर में भावेन्द्रिय का वर्तना।

त्रिगुट्ट का परिचय—भैया ! इस त्रिगुट्ट को स्पष्ट यों समझिए। जैसे रसना इन्द्रिय का विषय भोगना है तो रसना इन्द्रिय के विषयभूत साधन रसीले पदार्थ हैं, उनका समागम होना। प्रथम बात न हो कुछ रसीली चीज तो रसविषय को भोगा कैसे जाय ? सो प्रथम बात तो विषयों का संग होना आवश्यक है। विषय पास में पड़े हैं पर यह लपलपाती हुई जिह्वा उस विषय का स्पर्श न करे, उस विषय में यह जीभ प्रवृत्ति न करे तो उपभोग कैसे होगा ? इसलिए द्रव्येन्द्रिय भी लग गयी, पर अन्तर में भावेन्द्रिय न प्रवर्ते तो यो मुर्दे के शरीर पर भी भोजन रख देने पर भोग तो नहीं होता। सो अन्तर की खण्ड ज्ञानभावना है इसकी भी वृत्ति होना आवश्यक है। लो, यों विषयप्रसंग में तीन बातें हुईं। अन्तर में खण्डज्ञान का उदय अर्थात् भावेन्द्रिय की प्रवृत्ति, दूसरी बात द्रव्येन्द्रिय की प्रवृत्ति, चमड़े पर जो इन्द्रियां लगी हैं, जीभ है, नाक है, आँख हैं, इनकी प्रवृत्ति और तीसरी बात है विषयों का संग मिलना। यह विषय तो इन्द्रियविषयभोग की बात का है। अब इन्द्रियविजय की बात सुनिये।

त्रिगुट्ट के विजय का उपाय परमोपेक्षा—इन्द्रिय के विषयों को विजय करना है तो स्वयं पर पुरूषार्थबल करो तो विजय होगी। विषयों पर विजय होना, द्रव्येन्द्रिय पर विजय होना और भावेन्द्रिय पर विजय होना यही अपूर्व पुरूषार्थबल है। इसके विजय की तरकीब क्या है ? तरकीब बिल्कुल सीधी है। जिस पद्धति में भोग होता है उसका उल्टा चलने लगे, लो विजय हो गयी। कोई दुष्ट साथ लगकर पद-पदपर दुःख का कारण होता हो तो उसके विजय का साधन, कारण उपेक्षा कर

देना है। कोई मनुष्य दुष्ट की उपेक्षा तो न करें, स्नेह जताए और फिर उससे पिंड छुड़ाना चाहे ऐसा नहीं हो सकता। तो तीनों की उपेक्षा करे उसमें इन्द्रियविजय होती है।

भावेन्द्रिय के विजय का उपाय—अब किस तरह इस त्रिगुट्ट की उपेक्षा करें, एतदर्थ पहिले इसका स्वरूप जानों। भावेन्द्रिय का स्वरूप है खण्डज्ञान। जैसे रस को भोगा जा रहा है और कोई पुरूष सारे विश्व को जानें उस काल में रस को भोग सके, क्या ऐसा हो सकता है ? केवल रस का ज्ञान करे, रस में ही आसक्ति रक्खे तो रस का भोग होगा। यह भावेन्द्रिय है खण्डज्ञानरूप। इस भावेन्द्रिय पर विजय करना है तो अपने आपको अखण्ड ज्ञानस्वरूप विचारो। अखण्ड ज्ञानस्वरूप अपने आपका ध्यान किया तो खण्डज्ञान पर विजय हो जायेगी। देखो ना, विषयवृत्ति से उल्टा चले तब विजय मिलेगी।

द्रव्येन्द्रिय के विजय का उपाय—द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप है जड़ पौद्गलिक अचेतन, सब जानते हैं। जो चाम पर बनी हुई इन्द्रियां हैं वे सब जड़ हैं, अचेतन हैं। इन जड़ अचेतन द्रव्येन्द्रियों पर विजय हो सकती है तो जो इनका अचेतनस्वरूप है उसके विपरीत अपने को सोचने लगें। ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं, मैं चेतन हूँ। जहां रही सही लिपटी मित्रता दूर हुई, तहां चैन हुई। पर की मित्रता समाप्त होना आनन्द के लिए है। यह जगत का मोही प्राणी इन भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय एवं विषयों में राग बनाए हुए है। जब तक इन तीनों का राग नहीं छूटता तब तक इन्द्रियविजय कैसे हो सकती है ? ज्ञानकला तो जगह नहीं और बाह्यपदार्थ का हम त्याग करें तो फल यह होगा कि छोड़ दिया मीठा, किंतु इच्छा यह लगेगी कि किसमिस छुहारा कुछ चीज तो लावो संग में, काम कैसे चलेगा ? कुछ फोड़े ऐसे होते हैं कि ठोस जगह के फोड़े को यदि दबा दो तो दूसरी जगह फोड़ा निकलेगा। उस फोड़े का नाम क्या है, हम भूल गए, किंतु ऐसा होता तो है न, यों ही ज्ञानकला बिना बाह्यपदार्थों के त्याग का लक्ष्य भी बनायें तो वस्तुत: त्याग नहीं हो पाता। यह इन्द्रियविजय का अमोघ उपाय आध्यात्मिक ज्ञानी संत पुरूषों की परम्परा से चला आया हुआ है। द्रव्येन्द्रिय का विजय होता है अपने आपको चेतन मानकर अपने को ज्ञास्वरूप अनुभव करने से।

विषयविजय का उपाय—विषयों का नाम है संग, इन संगों का विजय करना है तो अपने को असंग ध्यान करने लगो। मैं असंग हूँ, विविक्त हूँ, समस्त पदार्थों से त्रिकाल न्यारा हूँ, किसी भी समय अणुमात्र भी परद्रव्यों से मेरा मेल नहीं है। यों अपने को असंग चेतन अखण्ड ज्ञानस्वरूप अनुभव करने के परिणाम में इन्द्रियविजय होती है। जब तक इन्द्रियसंयम नहीं होता तब तक इस जीव को परमात्मतत्त्व का दर्शन नहीं हो सकता है। यों परमात्मतत्त्व के दर्शन के प्रकरण में इन्द्रियसंयम का उपाय कहा गया है किताब में से पेज 20

होता है यही तो परमात्मा का तत्त्व है। इतने जानने के बाद अब ज्ञानी जीव की क्या स्थिति होती है अथवा उसका क्या एक निर्णय रहता है ? इस विषय को अब कह रहे हैं।

श्लोक 31

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।३१।।

प्रभुत्व का एकत्व—जो पर आत्मा है, उत्कृष्ट आत्मा है, परमात्मा है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह ही तो मैं हूँ और जो मैं हूँ वह ही परमात्मत्व है। यहां ज्ञानीपुरूष स्वभाव दृष्टि करके देख रहा है, पर्यायदृष्टि से नहीं। पर्यायदृष्टि से जो परमात्मा निरखा जाता है वह विकास तो हम आप में है नहीं। यदि होता तो मोक्षमार्ग में लगने की क्या आवश्यकता थी ? किंतु जो कार्यपरमात्मा हैं उनमें भी स्वभाव अवश्य पडा हुआ है। शक्ति शाश्वत है। जिस शक्ति की व्यक्ति उनकी सर्वथा प्रवर्त रही है वह शक्ति जो कि यथार्थ पूर्वाव्यक्त हो गया है, जो वह शक्तिस्वरूप है वह ही मैं हूँ। यहां स्वभाव को निरखा है। शक्ति का शक्ति से नाता जोड़ा गया है। विकास का विकास के साथ सम्बंध नहीं देखा जा रहा है। तो उस शक्ति के नाते से जो परमात्मप्रभु है वह मैं हूँ। जो मैं हूँ वह परमात्मप्रभु है।

चित्तत्त्व की व्यापकता—लोग कहते हैं और जगह-जगह सुनने में आता है कि घट-घट में प्रभु विराज रहे हैं। घट-घट से मतलब घड़ा मटका से नहीं, किंतु देह-देह में प्रभु विराज रहे हैं। देह देह से मतलब रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले नहीं किंतु देह तो देवालय है जिसके सम्बंध में चर्चा की जा रही है उसका निवास स्थान इस समय यह देह है। इस देह देवालय के भीतर जो चेतन है, उस चेतन की भी बात नहीं कह रहे हैं किंतु उस समग्र आत्मा में स्वभावदृष्टि से शाश्वत जो चैतन्यतत्त्व है उसकी बात कही जा रही है। वह चैतन्यस्वरूप सर्व आत्मावों में एकस्वरूप है।

इन्द्रियसम्बंधविषयक प्रश्नोत्तर—कल के दिन एक बाबा जी ने तीन प्रश्न किए थे अलग एकांत में और बड़े संक्षेप भाषा में थे तथा बड़े उपयोगी थे और उनके हृदय की लगन को बताने वाले थे। वह बोले कि महाराज पहिले तो हमें यह समझना है कि ये सभी इन्द्रियां जीव में कैसे लगी हैं ? जीव तो ज्ञान का पिण्ड है। पहिला प्रश्न था। इसके समाधान में यह उत्तर दिया कि इन्द्रियां जीव में नहीं लगी हैं। ये नाक, आँख, कान देह में हैं, पुद्गल में हैं, भौतिक हैं, किंतु जीव का जब सम्बंध है तब इस प्रकार के इन्द्रिय की पैदायश इस देह में बनी है। तो सम्बंध मात्र निमित्त है, पर इन्द्रिय जीव में नहीं हैं। उनके अन्तर की आवाज थी समाधान पाया।

जीव की व्यापकता पर प्रश्नोत्तर—समाधान पाकर बाबाजी दूसरा प्रश्न करते हैं कि लोग यह कहते हैं कि यह जीव सर्वव्यापक है और जब सर्वव्यापक है तो स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख ये बातें फिर कैसे

बनेंगी, वह तो जो एक है वह एकरूप परिणमेगा ? उत्तर दिया कि वस्तुत: अनुभव की दृष्टि से जीव अनन्त हैं पर उन समस्त जीवों का जो स्वरूप है वह स्वरूप सबमें एक है, सदृश है। सो प्राचीन काल में जिस समय यह आवाज उठी उस समय ऋषीसंतों ने एक दृष्टि से एक जीव और सर्वव्यापक समझा। कोई त्रुटि की बात न थी। सभी जीवों में स्वरूप एक है, ऐसा नहीं कि मुझमें स्वरूप और भांति हो और आपमें स्वरूप और भांति हो। स्वरूपदृष्टि से एक है और ऐसा यह स्वरूप सबमें है। इस कारण यह जीव एक और सर्वव्यापक है किंतु इस दृष्टि से निगाह में न रखकर सवर्था ही यों मान लीजिए कि जैसे एक मैं हूँ, एक आप है, ऐसे ही कोई एक जीव है और वह यों व्यापक है, तब ऐसा प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह निर्णय स्याद्वाद द्वारा होता है। स्याद्वाद की ज्ञानभूमिका की बहुत बड़ी देन है।

साधु की अहिंसकता—तीसरा प्रश्न उन्होंने और किया था, उस समय जल्दी होने से उत्तर जल्दी में दे दिया था। तीसरा प्रश्न एक साथ कर दिया इस कारण से। प्रश्न था कि यदि इन पेड़ों में, फलों में, इन हरियों में जीव है तो फिर कोई अहिंसक बन ही नहीं सकता। साधु संतों को भी जंगल में फूल पत्तियां तोड़नी पड़ती है, लोग फल खाते हैं, सब्जियां खाते हैं तो वे अहिंसक कैसे रहे ? उस सम्बंध में यह उत्तर है कि साधु संतों की व्यवस्था भोजन की इस प्रकार है कि कोई गृहस्थ शुद्ध भोजन बना रहा है उसको बनाना ही था अपने घर पर और उस भोजन में साधुसंत बिजलीवत निकले और जिसने भक्तिपूर्वक पूछ लिया वहां भोजन कर लिया। संकल्प में भी यह बात नहीं आना चाहिए कि मैं इन फलों को तोड़ूं, पत्तियों को तोड़ूं, जीव तो वहां है ही। न हो जीव तो ये बढ़े कहां से ? सारा जगत जानता है, इसलिए साधु उस सम्बंध में अहिंसक रहते हैं। यदि साधु यह जाने कि यह रसोई एक मनुष्य के परिमाण की ही है और उसके उद्देश्य से ही बनी है। दो रोटियां और कुछ बना लिया जितना कि एक आदमी खा सकता है तो वहां साधु भोजन न करेगा। वह जान लेगा कि सबके लिए बना हुआ है तो लेगा।

स्वभावदृष्टि से ब्रह्मस्वरूप का दर्शन—तो प्रयोजन यह है कि वह परमात्मतत्त्व घट-घट में विराजमान है, प्रत्येक जीव में है, किंतु उसके देखने की विधि स्वभावदृष्टि की है। जैसे दूध के अन्दर घी मौजूद है, ऊपर से घी नहीं दिखता है फिर भी उस दूध में घी पडा हुआ है। जांचने वाले जन जान सकते हैं कि इस दूध में एक सेर में १।। छटांक घी निकलेगा। इस दूध में सेर में १ छटांग घी निकलेगा। दूध को देखकर जो ऐसा जान जाते हैं उनमें कोई कला तो होगी जो उन्हें घी दिख गया। घी आँखों से नहीं दिखा ज्ञान में दिख गया। यों ही संसार के जीवों में वह परमात्मस्वरूप प्रकट नहीं है और न परमात्मस्वरूप का कोई संसारी अनुभवन भी कर सकता है फिर भी इन संसारी मानवों में कोई बिरले ज्ञानीयोगी संत ऐसे भी होते हैं, कि इस संसृति की अवस्था में भी उस कारणपरमात्मतत्त्व का

अवलोकन कर लेते है।

अन्तर्ज्ञानी की अन्तर्ध्वनि—जिसने अपने आपके कारणपरमात्मतत्त्व का अवलोकन किया उसकी यह अन्तर्ध्वनि है कि जो मैं हूँ ऐसा वह परमात्मतत्त्व है। जो परमात्मतत्त्व है सो मैं हूँ, इस कारण मेरे द्वारा मैं स्वयं उपास्य हुआ, मेरे द्वारा यह मैं ही पूजा गया, अन्यत्र और कुछ निर्णय नहीं है, अन्य स्थिति नहीं है। यह अध्यात्ममर्म के अन्तर की ध्वनि है और वहां परीक्षणक में भी इसे लगायें तो मोटेरूप से यह जानेंगे कि कोई भी जीव अपने आपको छोड़कर अन्य किसी जीव में न राग कर सकता है, न द्वेष कर सकता है, न मेल कर सकता है, न आदर कर सकता है और न पूजा कर सकता है। प्रत्येक जीव अपने-अपने उपादान के अनुसार अपना परिणमन करता है। उस परिणमन में जो विषयभूत अन्य पदार्थ है उसका नाम लिया जाता है।

अभेदपरिणमन के व्यवहार में भेदकथन पर एक दृष्टांत—जैसे आप इस समय पेड़ को जान रहे होंगे तो हमें यह बतावो कि आपका आत्मा जो इस देह के अन्दर समाया हुआ है यह अपने प्रदेश में स्थित होकर क्या कर रहा है? पेड़ तो दूर है। उस पेड़ तक न आत्मा का हमारा प्रदेश गया और न आत्मा में से कोई किरण निकलकर उस पेड़ तक पहुंची। यह तो मैं पूरा का पूरा अपने प्रदेश में हूँ। मैंने क्या किया ? अपने ज्ञान का कोई परिणमन किया। हम पूछें कि बतावो तो तुमने ज्ञान का क्या परिणमन किया ? वे कहेंगे निश्चय दृष्टि रखकर कि मैंने अपने ज्ञान का एक जाननरूप परिणमन बनाया। अभी तो हमारी समझ में नहीं आया। तो सीधा व्यवहार की बात बता दूं। हां हां तो लो सुनो मैंने पेड़ को जाना। तो वस्तुत: उसने पेड़ को नहीं जाना, किंतु पेड़ विषयक अपने आपमें जानन रूप परिणमन किया। अब उस जाननरूप परिणमन को बता देने का उपाय उसके पास और कुछ न था, सो उस जानन में जो विषय हुआ उस विषय का नाम लेकर उसे कहना पडा कि मैंने पेड़ को जाना।

अभेदपरिणमन का व्यवहार मैं भेदकथन पर द्वितीय दृष्टांत—क्या आप अपने पुत्र से अनुराग करते हैं ? अरे पुत्र तो बाहर है आप अपने देह में समाये हुए हैं। आप जो कुछ कर सकेंगे वह देह के अन्दर ही तो कुछ कर सकेंगे। यह अमूर्त आत्मतत्त जो देहप्रमाण आज बना हुआ है वह क्या इस अपने प्रदेश से बाहर कुछ भी अर्थपरिणमन कर सकता है? नहीं कर सकता है। क्या किया आपने? ओह स्नेह किया। अरे स्नेह के मायने हम तो कुछ नहीं समझे। नहीं समझे, तो व्यवहारभाषा में सीधे बता दें। पुत्र से स्नेह किया। अरे कोई पुत्र से स्नेह कभी कर ही नहीं सकता। जो कुछ करता है वह अपने आप में कर रहा है। उस रागपरिणमन का विषयभूत वह पुत्र है। अत: पुत्र का नाम लेकर उस स्नेहपरिणमन को बताना पडा और कोई तरकीब न थी।

इस ही प्रकार जब हम कभी कार्यपरमात्मा को भी पूजते हैं उस समय भी हम कार्यपरमात्मा तक

प्रदेश से नहीं पहुंच पाते हैं। कार्यपरमात्मा बहुत दूर क्षेत्र में विराजमान् हैं किंतु उस समय में क्या कर रहा हूँ ? अपने प्रदेश में ही स्थिर रहता हुआ कोई भक्तिरूप परिणमन कर रहा हूँ, भज रहा हूँ। किसको भज रहा हूं? भज रहा हूँ। उस भजने का व्यक्तरूप व्यवहार की भाषा बोले बिना दूसरे को बता नहीं सकते। तब स्पष्ट कहना पड़ता है कि मैं भगवान् की पूजा कर रहा हूँ। अरे तुम भगवान् की पूजा कभी कर ही नहीं सकते। जो कुछ कर सकते हो सो अपने आप में कर सकते हो। इस दृष्टि से भी मैं अपने को ही पूजता हूँ, पर प्रभु को नहीं पूजता हूँ।

उपास्य निज कारणपरमात्मतत्त्व—भैया ! और फिर इतना ही नहीं, इसके और अन्तर में चलें, उसे भी नहीं पूज रहे हो। यह अन्तरर्ज्ञानी की अन्तर्ध्वनि से आवाज आ रही है कि जो कारणपरमात्मतत्त्व है वह ही तो मैं हूँ। मैं पूजक इस पूजा से जुदा नहीं हूँ। इस कारण जब तक उसकी दृष्टि न थी तब तक मैं भक्त न था, अब दृष्टि हुई है तो मैं पूजक कहलाने लगा, अन्यथा पूजक नाम भी ठीक न था। मैं हूँ और परिणम रहा हूँ, पर पहिले पूजक न था और आज मिली है दृष्टि, इसलिए पूजक नाम पड़ गया है। है वह अभेदतत्त्व। मैं अपने द्वारा अपने की ही उपासना करता हूँ। मेरे चित्त में एकमात्र यह निर्णय है।

बाह्य में शरण की अप्राप्ति—मैं जब लोक में शरण ढूँढ़ने चला तो जिन-जिन पदार्थों को मैंने शरण समझा, उन उन पदार्थों की ओर से शरण की बात तो दूर जाने दो, टुक संतोष भी न पा सका। कैसे संतोष हो, इस आत्मतत्त्व का कुछ भी मर्म आत्मप्रदेश से बाहर है ही नहीं। किसी दूसरे पदार्थ के वश में ऐसा कुछ है ही नहीं कि मेरे में कुछ परिणमन बन जाय। तो सब जगह ढूँढ़ा पंचेन्द्रिय के विषयभूत साधनों को खोजा कितने ही स्पर्श किये, बड़ा कोमल गद्दा या ठंडे, गरम कमरे का निवास, और-और भी सुहावने स्पर्शों का प्राप्त करना, रसीले भोजन चखना, सुन्दर रूपों को देखना, सुरीले रागों का सुनना, अच्छी गंध सूँघना, कितने ही उद्यम कर डाले, अपनी नामवरी चाही, यश के लिये दुनिया में बड़े श्रम किये, कितने ही यत्न कर डाले, बहुतों को अपना मन समर्पित किया, लेकिन न कहीं शरण मिली, न कहीं संतोष मिला।

अपने द्वारा अपनी उपास्यता—आखिर जब यथार्थ ज्ञान हुआ, जब विदित हुआ कि मेरे लिए यह मैं आत्मतत्त्व ही शरण हूँ। उपासना बाहर में किसकी करने जायें। यह मैं आत्मा स्वयं मेरे द्वारा उपास्य हूँ। मेरा जो सहज स्वभाव है अपने आपके सत्त्व के कारण जो सहज भाव है, चैतन्यभाव उस स्वभाव की उपासना ही मेरे हित में परम उपासना है और उस ही स्वभाव को हम अपने में पाते हैं और उस ही स्वभाव को प्रभु परमात्मा में पाते हैं। तो जो परमात्मा है सो मैं हूँ। जो मैं हूँ सो वह परम आत्मा है, इस कारण मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूँ। भगवान् की उपासना भी मेरे ठिकाने से हुआ करती है।

प्रभु के पते का ठिकाना—जैसे पत्रों के पते में केयर ऑफ लिखा जाता है ठिकाने में, तो प्रभु के नाम का यदि पत्र आप लिखें तो उसका ठिकाना क्या लिखा जायेगा ? आप ऊर्ध्वलोक लिखें, बैकुण्ठ लिखें, सिद्धशिला लिखें तो वह बैरंग पत्र डोलता रहेगा। ठिकाने न पहुंचेगा। उसका ठिकाना यदि यह ही निज आत्मतत्त्व लिखा जाय, माना जाय तो प्रभुसंदेश प्रवृत्त हो सकता है। यह मैं स्वयं हूँ ठिकाना, प्रभु का संदेश, प्रभु का समाचार जानने के लिए यह मैं खुद हूँ केअर आफ। तो ऐसे प्रभुवर का ठिकाना रूप यह मैं कारणसमयसार मेरे द्वारा उपास्य है और कोई उपास्य नहीं है, ऐसा मेरे में निर्णय हुआ है। इस निर्णय के बाद अब यह ज्ञानी संत अपने को किस प्रकार से ढालने का यत्न कर रहा है ? इसका वर्णन आयेगा।

श्लोक 32

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ।।३२।।

परमतत्त्व की उपासना के अर्थ प्रथम यत्न—यह मैं अपने आपको विषयों से हटाकर मेरे ही द्वारा मुझ में स्थित ज्ञानात्मक परम आनन्द से रचे गये आत्मा को प्राप्त होता हूँ। किसी निर्णय करने का फल तो यह है कि उस निर्णय में जो निश्चय हुआ है उस कार्य को कर लिया जाय। निर्णय यह हुआ है कि मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूँ। वह मैं किस तरह से उपासने में आ सकता हूं? इसका विधान इस श्लोक में कहा जा रहा है। मैं अपने को विषयों से पहिले हटाऊँ तब मैं अपने आपकी प्राप्ति कर सकूँगा और उस ही में यथार्थ उपासना हो सकेगी।

संसार का कठिन झूला—भैया ! यह सारा लोक एक विषयों से ही ठगा हुआ भटक रहा है और इसको क्लेश क्या है? विषयों में फँसने का कारण है राग द्वेष। उस राग की कीली पर लटका हुआ यह प्राणी चारों ओर घूम रहा है और ठगाया जा रहा है, दुःखी हो रहा है, फिर भी उसमें ही सुख मान रहा है। जैसे बड़े हिंडोलना में कोई बालक झूलने का शौक करता है, पैसा देकर पलकिया में बैठ गया। अब जब वह पलकिया ऊपर जाती है, नीचे आती है तो वह बालक डर के मारे चिल्लाता भी है। अब जब तक पलकिया चला करती है तब तक यह डरता रहता है, दुःखी होता रहता है, और पलकिया बंद होने पर बाद उतर आया तो थोड़ी देर बाद फिर बैठ जाता है। यह हिंडोला तो क्या है भ्रमण। इस जीव का असली हिंडोला देखो, यह है संसारभ्रमण। कहां का मरा कहां भटकेगा ? कहां पैदा होगा? कौन फिर इसका बचाने वाला होगा ?

प्रीतिरीति में रीता का रीता—यहां कोई किसी का तत्त्व है क्या, शरण है क्या ? कुछ भी तो इस जीव का शरण नहीं है लेकिन भटक रहा है। इन सब भटकनों का कारण है विषयों का प्रेम। इन विषयों की प्रीति से किसी ने कुछ शांति पायी है क्या ? किसी दूसरे की क्या सोचते हो खुद को ही देखो–क्या कोई शांति मिली

है ? कैसा भी विषय हो, खाने की बात देखो तो आध सेर रोज का ही हिसाब लगालो–कभी ३ पाव भी खाया, कभी पावभर खाया, इतना तो सब कुछ मिलाकर खा ही लिया जाता है। तो आध सेर रोज खाने पर महीना भर में खाया १५ सेर और साल भर में खाया १८० सेर, याने साड़े चार मन, और जिसकी उमर ६० वर्ष की हो गयी उसने २७० मन खाया। अरे २७० मन कितना होता है, एक रेल का डिब्बा भर जायेगा, उतना खा चुके हैं और अब भी वैसे के वैसे रीते हैं। अभी भी आशा लगाये हुए हैं कि लड्डुवा मिल जायें, तो कोई शांति मिली हो तो बतलावो। एक रसना की ही बात क्या स्पर्शन की भी बात देखो–कामवासना की भी बात देखो। इतने समय के भोगों के बाद भी क्या हाथ है ? रीता का रीता है। खूब खेल अथवा सुन्दर रूप भी देख लिया तो है क्या ? केवल अपनी आंखों का थकाना है। तत्त्व क्या निकलता है ? किसी भी इन्द्रिय के विषय में पड़कर इस जीव ने रंच भी संतोष नहीं पाया, फिर भी मोहवश यह विषयों को ही ललचा रहा है।

सिद्धि का साधन निर्मोहता की साधना—मेरा स्वरूप तो सिद्ध के समान है परन्तु हुआ क्या 'आशवश खोया ज्ञान' और भिखारी बना, निपट अज्ञान रहा। जो बात जिस पद्धति से बनती है उसको किए बिना उसकी सिद्धि नहीं है। मोह को बिल्कुल हटाने पर ही यह आत्मा अपने आप उस परमात्मतत्त्व के दर्शन कर सकता है, मोह राग करके दर्शन नहीं कर सकता है। किसी समय तो ऐसा अनुभव आना चाहिए कि मैं अकिन्चन हूँ। इस लोक में मेरा कहीं कुछ नहीं है, आखिर मामला यह है, जैसे पैदा हुए हैं अकेले, ऐसे ही अकेले जायेंगे, कुछ साथ न रहेगा, लेकिन व्यामोह का कैसा कठिन परिणाम है कि इसे सत्य पथ सूझता ही नहीं है। सब छोड़ जायेंगे पर अपने जीवन में उसकी ममता नहीं छोड़ सकते। कितना कठिन काम है और जिनके लिए ममता कर रहे हैं वे अपने आपके काम कभी आने के नहीं हैं, फिर भी इतना चित्त में नहीं आता कि मैं कुछ जीवन के थोड़े वर्ष ममता रहित होकर आत्मसाधना में व्यतीत रूँलें।

स्वार्थ का साथ—एक सेठ के चार लड़के थे। ५ लाख का धन था। सब लड़कों को बांट दिया और अपने एक लाख अपने कमरे में भींतों में चुन दिया, लड़कों को सब मालूम था। जब सेठ के मरण का समय आया तो बोल थम गया। सेठजी बोल न सके। पंच लोग कुछ आये और बोले कि अब तुम्हें जो दान करना हो सो करलो। तो उसकी मंशा हुई कि मेरे पास जो हिस्से का एक लाख का धन पड़ा हुआ है यह सबका सब पंचों को सौंप दें और जो काम अच्छा हो उसमें पंच लगावे। सो बोल तो सके नहीं, इशारे से कहता है भींतों की तरफ हाथ करके, पंचों की तरफ हाथ ड़ेलता हुआ अपने भाव बताता है कि जो कुछ मेरे पास है यह सब मैंने दान किया, लेकिन पंचों में से कोई भी उसका अर्थ न समझ सका। तो लड़कों को बुलाते हैं। अरे लड़कों बतलावो तो जरा, ये तुम्हारे पिताजी क्या कह रहे हैं ? तो लड़के कहते हैं कि पिताजी फर्मा रहे हैं कि मेरे पास जो कुछ धन था वह सब भींतों के बनाने में खर्च कर दिया। अब मेरे पास कुछ नहीं है, यह फर्मा रहे हैं। सेठ सुन रहा है, हाय मैं चाहता हूँ कि मेरी सम्पत्ति भले काम में लगे, मगर ये बेटे कुछ उल्टा ही कह रहे हैं।

विषयनिवृत्ति का प्रधान कर्तव्य—क्या है भैया ! जब तन भी साथ न जायेगा तो अन्य चीज की आशा ही क्या करते हो? परिणामों की निर्मलता बन जायेगी तो अगले भव में भी सुख का समागम मिलेगा अन्यथा संसार

का भटकना जैसा अभी तक चला आया है ऐसा ही चलता रहेगा। मैं अपने आपको पाने के लिए, अपनी उपासना करने के लिए समस्त विषयों से अपने को हटाऊँ, पहिला काम तो यह है। सोच लो जो लाभ की बात है सो करो। हानि की जो बात है उसे मत करो। मैं अपने को विषयों से हटाकर अपने आप में स्थित ज्ञानात्मक अपने आपको प्राप्त होऊं। जितने महापुरूष हुए हैं बड़े राजा महाराजा, जिन्होंने कल्याण का मार्ग अपनाया है, जो मुक्त हुए हैं, निर्दोष आनन्दमय हुए हैं उन्होंने यह किया था। हम पुराण पढ़ते हैं, शास्त्र बाँचते हैं उनसे यदि हमने अपने आपको सन्मार्ग में ले चलने की शिक्षा ग्रहण न की तो फिर बतावो कि वह सब पढ़ना किस मायने को रखता है ?

यथार्थ भक्ति—प्रभु की असल में भक्ति वह है कि जो प्रभु का उपदेश है उस पर हम यथाशक्ति चलें, अन्यथा हम भक्त नहीं है। कोई पुत्र अपने बाप की पूजा करे, हाथ भी जोड़े, सिर भी नवाये, पर उसकी बात एक न माने या उसकी कोई सुविधा न बनाए तो क्या वह पिता का सेवक कहा जा सकता है, ऐसे ही हम प्रभुमूर्ति के आगे सब कुछ न्यौछावर करें, हाथ जोड़ें, सिर रगड़ें और बात उनकी हम एक भी न मानें तो हम प्रभु के भक्त कैसे ? एक प्रसिद्ध बहाना है कि पंचों का कहना सिर माथे, किंतु पतनाला तो यहां से निकलेगा। प्रभु की तो पूजा वगैरह सब कुछ करते हैं, करेंगे, बड़े उत्सव मनावेंगे, पर मोह रागद्वेष जैसा है उतना वैसा ही रहेगा बल्कि और बढ़ने को चाहेगा।

आत्मा का पर से नाते का अभाव—भैया ! यह अनित्य संसार है जिसमें किसी भी वस्तु का विश्वास नहीं है। जो आपको मिला है वह अटपट मिल गया है। कोई कानून कायदे से नहीं मिला है कि आपके आत्मा में और परपदार्थों में कुछ नाम खुदा हो कि यह तो इनको मिलना ही चाहिए, न मिलते ये दूसरे के पास होते तो क्या ? ऐसा हो न सकता था तो अब जो यों ही अटपट मिला है उसका सदुपयोग कर लो, उदारत अपनालो तो इसका कुछ लाभ भी मिलेगा, अन्यथा जैसे मुफ्त आया है वैसे ही मुफ्त जायेगा और उस दलाली में केवल पाप ही हाथ रह जायेगा।

व्यर्थ का प्रसंग—एक चोर कहीं से घोड़ा चुरा लाया, बाजार में बेचने को खड़ा कर दिया। कुछ ग्राहक आये, पूछा घोड़ा कितने में दोगे ? सो था तो वह १००) रू का और बताया ५००)रू का। किसी ने न लिया। कोई बूढ़ा अभ्यस्त चोर था, उसने पूछा घोड़ा कितने में दोगे ? वह तेज आवाज में बोला ५००) रू का। वह झट समझ गया कि घोड़ा चोरी का है। बोलो इसमें विशेषता क्या है? कला क्या है? तो वह बोला कि इसकी चाल सुन्दर है। अच्छा तो हम जरा देखें। देखो। अच्छा यह मिट्टी का हुक्का पकड़ो। पकड़ लिया। वह चला घोड़े पर बैठकर घोड़े की चाल देखने। चाल देखना तो बहाना ही था, वह उस घोड़े को उड़ा ले गया। अब पुराने ग्राहक फिर से आए, पूछा कि घोड़ा बिक गया क्या ? हां बिक गया। कितने का बिका ? जितने में लाये थे उतने में बिक गया और मुनाफे में क्या मिला ? मुनाफे में मिला यह मिट्टी का हुक्का। यों ही जिसे जो कुछ समागम मिले हैं वे आपके आत्मा से बँधें हुए नहीं हैं। आप स्वतंत्र हैं, ये सर्व पर समागम आपसे भिन्न है। ये मिल गए हैं और यों ही बिछुड़ जायेंगे, पर मुनाफा क्या मिलेगा ? पाप का हुक्का।

वास्तविक त्याग में प्रभु का आकर्षण—जब इस अनादिनिधान अपने आपके स्वरूप की दृष्टि नहीं होती है तो

क्या कहा जाय इस बेचारे गरीब को ? भले ही लाखों करोड़ों का धन हो किंतु यह तो असहाय है, दीन है। बाह्यवस्तुवों की ओर अपना आकर्षण बनाकर दुःखी हो रहे हैं। इनको दुःख मिटाने का जो उपाय है उसे यहां कहा ? पहिला कदम है मैं अपने को विषयों से हटाऊं। इन्दौर में एक कल्याणदास की सेठानी थी। उपवास वह बहुत करे। वहां आहार हुआ। हमने कहा, मां जी वैसे ही तुम दुबली पतली हो, क्यों इतना अधिक उपवास करके शरीर सुखा रही हो? रोज खाया करो और धर्मसाधना में अधिक रहा करो। तो वह बोलती है कि हमारे उपवास करने के दो कारण है। पहिला तो यह कि हम बचपन से विधवा है तो हमने उपवास करके अपने भावों को निर्मल रक्खा। दूसरे अब हम वृद्ध गयी है फिर भी हम उपवास या त्याग करती हैं, उसमें हमारी तो दृष्टि यह है कि चीज मौजूद रहते हुए त्याग किया जाय तो उसका नाम त्याग है, और नहीं है कुछ और त्याग का कोई नाम बोले तो वह त्याग नहीं है। जैसे कोई भोजन को बैठे और कहे कि देखो जो-जो चीज हमारी थाली में न आयेगी उसका हमारा त्याग है। हम तो कहते हैं यह भी अच्छा है। जो चीज थाली में न आए और अन्तर में उसकी चाह न रहे तो हम उसको भी त्याग मानते हैं। पर अन्तर में तो चाह फिर भी बनी है कि अमुक चीज थाली में नहीं दी जा रही है उसका क्या त्याग कहा जाय।

भावना में ग्रहण और त्याग—भैया ! वास्तव में त्याग, वास्तव में विषयों से हटना तब ही सम्भव है जब ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्व का निर्णय हो, विश्वास हो। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मुझमें ज्ञान और आनन्द भाव है, इस के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का न तो ग्रहण है और न उसका त्याग हो सकता है अर्थात् जब ग्रहण नहीं है तो त्याग किसका किया जाय ? अपने ज्ञानभाव का सही होने का ही नाम वास्तव में त्याग है। कोई परचीज इस मुझ आत्मा में कहां पड़ी है ? कोई रसीली चीजों का रस इस आत्मा में तो छुवा भी नहीं जा सकता है, फिर मैंने रस का ग्रहण किया और रस का त्याग किया, उस रसविषयक ज्ञान में ऐसा विकल्प बना लेना कि मैंने मीठा भोगा, अमुक चीज का आनन्द लिया, ऐसे विकल्प के करने का नाम ह तो ग्रहण है। तथा मुझ आत्मतत्त्व में तो किसी परवस्तु का प्रवेश ही नहीं है। यह मैं स्वतन्त्र ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ, इस प्रकार का अनुभव करना इस ही का नाम सबका त्याग है।

विषयनिवृत्ति और ज्ञानवृत्ति—देखो किस किस वस्तु का नाम ले लेकर आप त्याग कर सकते हैं बतावो ? कितनी चीजों का त्याग करना लाभदायक है ? आप कहेंगे कि सभी पदार्थों त्याग करना आत्म विकास का हेतु है। तो पदार्थ तो अनन्त हैं, किसी का नाम लेकर त्याग कर ही नहीं सकते हैं, और एक ज्ञानमात्र अपने आपको स्वीकार कर लिया तो लो इसमें सबका त्याग एक साथ हो गया। तो विषयों का हटना और ज्ञानमात्र अपने आपको पाना, यद्यपि ये दोनों बातें एक हैं, फिर भी व्यवहार में कुछ विषयों से हटने के उपाय को ज्ञान में लिया जाता है। इस ज्ञान में लगने के उपाय से विषयों से हटा जाता है। तो समय समय पर जो चाहे पहिले पीछे इन दोनों कार्यों को करे। मैं सर्वविषयों से अपने आपको हटाकर अपने आपको प्राप्त होता हूँ। यह मैं ज्ञानमात्र ही हूँ और उत्कृष्ट ज्ञानभावों से मैं निर्मित हूँ। मैं अपने को अपने में खोजने जाऊं तो वहां न मैं किसी रंग में लिपटा हूँ, न वहां रस, गंध आदिक में मैं मिल गया हूँ। मैं तो केवल जानन और आनन्द इन दो रूपों में मिलूंगा। ज्ञान और आनन्द के अतिरिक्त मेरे अन्दर कुछ भी स्वभाव नहीं है। मैं सबसे हटकर

केवल ज्ञानरूप और आनन्दमय अपने आपको प्राप्त होता हूँ।

निजपदनिवास—लोग दु:संग से थककर उनसे हटकर अपने आपके घर में बैठे रहने का संकल्प किया करते हैं। अब मैं इस प्रसंग में न रहूंगा। उससे अपने को हटाकर अपने ही घर बैठूंगा। यों ज्ञानी सन्त ने विषयों के संग को दु:संग समझा है और उस दु:संग में अनेक खोटे परिणाम भोगे। तो अब यहां दृढ़ संकल्प कर रहा है कि मैं अपने को विषयों से हटाकर अब अपने ही घर में विराजूंगा। वह विषयों का लगना भी अपने ही प्रदेश में था; किंतु बहिर्मुख पद्धति से या और अपने आपके घर में बैठना अपने आप में लगना यह भी अपने प्रदेश में है किंतु यह अन्तर्मुख होने की पद्धति से है। सो अब मैं बहिर्मुखता को त्याग कर अन्तर्मुख होकर ज्ञानानन्दमय अपने आपके स्वरूप को प्राप्त होता हूँ।

श्लोक 33

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तप:।।३३।।

योगिगम्य अन्तस्तत्त्व—इससे पूर्व श्लोकों में इस बात का विस्तृत वर्णन किया गया है कि यह ज्ञानमय आनन्दघन निज आत्मतत्त्व देह से सर्वथा प्रथग्भूत है। सर्ववैभवों से सर्वोत्कृष्ट वैभव आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान बिना यह जीव अनात्मतत्त्व में अपना सम्बंध मानकर हैरान होता फिर रहा है। परवस्तु तो पर ही है, न उनके परिणमन से मेरा कुछ बनता बिगड़ता है और न मेरे परिणमन से उनका कुछ बनता बिगड़ता है, लेकिन मोहबुद्धि में पर का स्वामित्व अपने में बनाकर व्यर्थ की परेशानी उठाई जाती है। जिस महाभाग को आत्मज्ञान हो जाय, देह से भी पृथक् निज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्व का अनुभवरूप दर्शन हो जाय, उसके वैभव का वर्णन बड़े-बड़े योगीश्वर भी नहीं कर सकते। ऐसे इस आत्मतत्त्व का पहिले कुछ वर्णन हुआ है।

विविक्त आत्मतत्त्व के परिज्ञान बिना निर्वाण की अप्राप्ति—अब इस श्लोक में यह कह रहे हैं कि जो पुरूष देह से भिन्न अविनाशी आत्मा को नहीं जानता है वह बड़ा घोर तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं हो सकता है। निर्वाण मायने क्या है ? क्लेशों का बुझ जाना। क्लेश कैसे चुभते हैं ? इन क्लेशों का कारण है मोह और कषाय, सो मोह और कषाय की तेल बाती सूख जाय तो क्लेशों की लौ बुझ सकती है। इस जीव में बसे हुए ६ दुश्मन हैं–मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ। जीव अपने इन परिणामों के कारण ही दु:खी रहता है। कोई सा भी क्लेश हो, उन सब क्लेशों में यह निर्णय कर लो कि इसमें मैंने यह गलती की, इसलिए दु:ख हुआ।

सर्वक्लेशों का कारण स्वयं का अपराध—भैया ! चेतन अथवा अचेतन किसी भी परपदार्थ की त्रुटि से हमें क्लेश नहीं हो सकता है, हमारी ही त्रुटि से हमें क्लेश होता है। यह पूर्ण निश्चित निर्णय है। अपने जीवन में जो इस नीति को अपनाता है कि मेरे को जितने भी जब भी क्लेश होते हैं तो मेरे अपराध के कारण होते हैं,

दूसरे का कोई भी अपराध मेरे दुःख का कारण नहीं हो सकता है। रख लीजिए उदाहरण के लिए १०-२० घटनाएं। प्रत्येक घटना में यह निर्णय पायेंगे कि जितने भी क्लेश होते हैं वे सब मेरे अपराध से मुझे होते हैं। कोई भी आप घटना बताएं, उदाहरण पेश करें, इस नियम का उल्लंघन नहीं होगा।

मूल अपराध ममता—मान लो कोई ऐसा भी हो कि अपन बहुत सीधे साधे हैं, घर की कमायी है, विशाल धन है, खुद मौज उड़ाते हैं, किसी को सताते नहीं है फिर भी अनेक कुटुम्बियों में, रिश्तेदारों में, पड़ौसियों में, राज्यकर्मचारियों में बहुत से ऐसे कारण निकल आते हैं जिनसे वे जो बहुत सताते है, वे सताते नहीं है, वे चाहते है धन, चाहते है कुछ अपना लाभ। सो वे कषायों के अनुसार अपना परिणमन करते हैं और यहां धनी को जो क्लेश हो रहा है उसमें अपराध है धन में ममता का। दुःखी हो रहा है व्यर्थ अपने विकार से। कोई यह कहे, तो क्या करें ? क्या बिल्कुल धन छोड़कर फकीर बन जायें। हम यह नहीं कहते हैं, तत्त्व की बात कह रहे हैं कि दूसरे के अपराध से अपने को क्लेश नहीं होता है। क्लेश होने में अपराध है स्वयं का। यहां के जो परतत्त्व है, परपदार्थ हैं, उनमें ममता परिणाम है इसलिए क्लेश हो रहा है।

सकलप्रवृत्तियों की क्लेशरूपता—निष्पक्षदृष्टि से देखो भैया संसार में क्लेश तो सदा हैं। खूब आय भी हो रही हो, धन भी है, कोई नुकसान भी नहीं पहुंचता, हंसी खेल में दिन कट रहे हैं, वे भी सब क्लेश ही क्लेश है। हर्ष भी आकुलता बिना नहीं होता, विशाद भी आकुलता बिना नहीं होता। खूब परख लो, एक जैसे भोजन का सुख है, बढ़िया बढ़िया भोजन बना, घर का ही भोजन है, बड़े आनन्द से खा रहे हैं पर यह तो बतावो कि यह खाने का जो यत्न है यह शांति के कारण हो रहा है या आकुलता के कारण हो रहा है ? इसका ही निर्णय दो। शांति होती तो किसी भी विषय में रंच भी यत्न न होता। जितने भी विषयों के व्यापार होते हैं वे सब आकुलता के कारण होते हैं।

हर्ष में आकुलता—पूर्व समय में कोई एक अंग्रेज था। उसकी आदत थी लाटरी डालने की। १० रूपये लाटरी पर लगा दिये तो हजार, दस हजार, लाख, दो लाख उसमें नम्बर आने पर मिलते है। सो उसने लाटरी के पीछे बड़ा पैसा खो दिया। एक बार सोचा कि हमारा जो चपरासी है उसके नाम १० रूपये डाल दें, सो चपरासी के नाम पर १० रूपये का टिकट डाल दिया। भाग्य की बात कि २ लाख रूपये की लाटरी उसके नाम पर निकली। अब वह अफसर सोचता है कि यह बेचारा गरीब जब यह सुनेगा कि मुझे दो लाख रूपये मिले हैं तो हर्ष के मारे उसका हार्ट फेल हो जायेगा। हर्ष में तो इतनी आकुलता होती कि प्राणों का भी क्षय हो जाता है। तब क्या किया ? कोई सोचते होंगे कि हम न हुए उसकी जगह पर (हँसी) वह ईमानदार था। उसने पहिले चपरासी को बेंत लगाकर खूब पीटा। उसके मध्य में ही यह सुनाया कि तुझे दो लाख रूपये मिले हैं। जान उसकी बच गयी। अगर बिना पीटें सुन लेता कि दो लाख मिले हैं तो हर्ष के मारे कहो प्राण छोड़ देता। वह चपरासी कहता है कि हुजूर हम दो लाख कहां धरेंगे, हम तो कुछ व्यवस्था भी नहीं करना जानते, सो जो करना हो आप करो। सो उसके नाम पर कोई कंपनी खोल दी और स्वयं उसमें काम करने लगा।

अब वहीं पर चपरासी मालिक कहलाता।

यत्न का स्रोत आकुलता—भैया ! कोई निमित्त भी हो जाय किसी के दुःख का तो ऐसी भी घटनाओं के अन्दर भी यही निर्णय मिलेगा कि जो दुःखी होता है वह अपने अपराध से दुःखी होता है। हर्ष में आकुलता, विशाद में आकुलता, सर्वत्र आकुलता है। आकुलता के बिना यत्न नहीं होता। बुखार जिसे न चढ़ा हो वह चार छः रज़ाई क्यों ओढ़ेगा ? जिसे फोड़ा, घाव न हो तो वह क्यों मलहम पट्टी करेगा ? जितने ये चिकित्सा रूप व्यापार है वे किसी न किसी आकुलता के कारण होते हैं और उन सब आकुलतावों का पोषक है देह में 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि करना।

आकिञ्चन्यधर्म की उपासना—जो पुरूष देह से भिन्न अपने आपके स्वरूप को नहीं जानते हैं वे उत्कृष्ट तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होते। कितने भी समागम हों, अपनी रक्षा करना, अपना अगला भविष्य भी सुधारना हो और वर्तमान में भी शांति चाहते हो तो ऐसी श्रद्धा और ऐसा ध्यान रक्खो कि मैं आकिञ्चन्य हूँ, मैं अपने स्वरूप मात्र हूँ, मेरा जगत में कहीं कुछ नहीं है।

बाहरी धर्मशाला—एक संन्यासी जा रहा था। रास्ते में एक सेठ की हवेली मिली। हवेली पर पहरेदार खड़ा था। संन्यासी पूछता है कि यह धर्मशाला किसकी है ? पहरेदार बोलता है कि आगे जाइये, यह धर्मशाला नहीं है। अजी हमको आगे से मतलब नहीं, हम तो यह जानना चाहते हैं कि यह धर्मशाला किसकी है? फिर पहरेदार बोला—साहब यह धर्मशाला नहीं है, आपको ठहरना हो तो ठहर जावो। यह तो सेठजी की हवेली है। इतने में सेठजी ने भी सुन लिया। सेठ ने संन्यासी को बुलाया और कहा, महाराज आप ठहर जाइये। आप ही का तो यह सब है। संन्यासी बोला ''हमें ठहरना नहीं है, हमें तो यह बतावो कि धर्मशाला किसकी है?'' फिर सेठ बोला ''महाराज धर्मशाला नहीं है, यह तो हमारा घर है।'' साधु बोला, ''इसे किसने बनाया था?'' सेठ बोला, ''हमारे बाबा ने।'' वे बनवाकर कितने दिन रहे थे ? महाराज वे तो पूरा बनवा भी न पाये थे बीच में गुजर गये। फिर किसने बनवाया ? फिर हमारे पिता ने बनवाया। वे कितने दिन रहे थे ? वे कोई ५ वर्ष तक जीवित रहे होंगे फिर गुजर गये। और अब तुम कितने दिन रहोगे ? अब उसे सब ज्ञान जगा कि महाराज शिक्षा के लिए ही सब पूछ रहे थे। हाथ जोड़कर सेठ बोला महाराज कुछ पता नहीं है। संन्यासी बोला ''देखो धर्मशाला के नाम पर जो मकान बना है उसमें तो इतनी गुञ्जाईश फिर भी है कि मुसाफिर को १०-१५ दिन ज्यादा ठहरना हो तो सेक्रेटरी को दरख्वाश्त देकर बढ़वाये जा सकते हैं किंतु यह धर्मशाला इतनी कड़ी है कि जिस दिन जीवन समाप्त हो जायगा तो कोई कितनी ही मिन्नतें करे, स्त्री, परिवार, पुत्र तो एक सेकण्ड भी नहीं ठहर सकता है।

किस पर गर्व?—भैया ! यहां गर्व करने लायक है क्या ? न यह शरीर गर्व की वस्तु है। अपवित्र ही सर्वपदार्थों से रचा हुआ है और फिर विनाशीक है, दुःख का कारण है, अज्ञान का पोषक है। मकान,

घर, वैभव अचानक ही किसी दिन मरण हो गया तो सब यहीं के यहीं पड़े रह जायेंगे। कौन सी चीज गर्व करने लायक है ? परमार्थ से विचारो। संसार में यश फैल जाना, लोग जानें कि यह बड़ा चतुर है, महापुरूष है, कलावान् है—ऐसा कुछ यश फैल जाना यह कुछ गर्व की वस्तु हैं? अरे ! यश क्या है? संसार का स्वप्न है और यश को गाते भी कौन हैं? स्वार्थीजन। जिनका विषय सधता हो। संसार में गर्व करने लायक पदार्थ कुछ भी नहीं है।

स्वच्छता की प्रथम आवश्यकता—अपने को अकिञ्चन् समझो। अकिञ्चनोहं मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं तो यह परिपूर्ण आनन्दघन ज्ञानस्वरूप अछेद्य, अभेद्य आत्मतत्त्व हूं—ऐसा अपने को अकिञ्चन् अनुभवना यह परम अमृत है। इस भावना से ही अन्तर में ऐसा घूँट मिलेगा और प्राय: गले से भी सुख झराता हुआ घूँट पीने को मिलेगा जो संतोषपूर्ण होता है। बड़ा तप और क्रियाकाण्ड करने से पहिले अपने अन्तर की स्वच्छता कर लेना अति आवश्यक है। कोई पुरूष गन्दी भींत पर चित्राम लिखने लगे और वहां भी बड़े ऊँचे रंग से, ढंग से चित्राम बनाने लगे तो वह विवेकी नहीं है। पहिले उसी भूमिका को इतनी योग्य तो बना लेना चाहिए कि वह चित्राम लिखा जाने लायक हो जाय। ऐसा ही मुक्ति मार्ग का कोई यत्न होता है। करना है तो उससे पहिले हमें अपने आपको स्वच्छ बनाना चाहिए। और स्वच्छ बनाने का यत्न यह हैं कि ऐसा अनुभव करें कि मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दघन आत्मतत्त्व हूँ, व्यवहार की बात व्यवहार में है, परमार्थ की बात परमार्थ में है। और ज्ञानी संत कभी व्यवहार भी करता है और कभी परमार्थ दृष्टि भी करता है। दोनों उसकी स्थितियां चल रही हैं, किंतु परमार्थ साधना के समय में व्यवहार को स्थान नहीं दिया है।

परमार्थसाधना के समय व्यवहार को स्थान का अभाव—एक नगर का राजा किसी शत्रु पर चढ़ाई करने चला गया रानी को राज्य शासन देकर। इतने में किसी दूसरे शत्रु ने रानी के राज्य पर आक्रमण कर दिया। तो रानी ने सेनापति को हुक्म दिया कि इस सेना का मुकाबला करो। सेनापति जैन था, पर कर्तव्य तो निभाना ही था। सेना सजाकर चल दिया। रास्ते में जब शाम हो गयी तो हाथी पर चढ़े ही चढ़े अपना भक्ति, भजन, पूजन, ध्यान करने लगा। किसी पेड़ पत्ती को मुझसे कष्ट हुआ हो तो क्षमा करना, किसी कीड़े, मकौड़े, मछली, ततैये को मेरे द्वारा कष्ट हुआ हो तो क्षमा करना। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय वगैरह सबसे प्रार्थना करने लगा, प्रतिक्रमण करने लगा। कुछ चुगलखोरों ने रानी से चुगली की कि आपने ऐसा सेनापति भेजा जो कि कीड़े मकौड़ों से भी माफी माँगता है, वह क्या विजय करेगा? एक सप्ताह के अन्दर ही शत्रु को परास्त करके सेनापति आ गया। रानी पूछती है कि हमने तो यह सुना था कि तुम कीड़े मकौड़ों से भी माफी माँगते हो, तुमने कैसे विजय प्राप्त की ? तो सेनापति उत्तर देता है कि ''हम आपके राज्य के सेवक २३ घंटे के हैं। सोते समय में भी काम पड़े तो ड्यूटी बजायेंगे, खाते हुए में भी काम पड़े तो खाना छोड़कर कर्तव्य

निभायेंगे, परन्तु एक घंटा समय हम अपनी सेवा के लिए निकालते हैं। वह है ध्यान और सामायिक का समय। वहां हम अपनी दया रखते हैं। हमारी आत्मा का हित इसी में है। सो वह मेरी आत्मकरूणा का समय था, और जब युद्ध का समय हुआ तो उसमें सारी शक्ति लगाकर युद्ध किया। तो जैसे आत्मकरूणा के समय में अन्य चिंताएं न रखनी, इस ही प्रकार परमार्थ दर्शन की विधि में व्यवहार को स्थान नहीं देना चाहिए।

अप्रकृत चेष्टा—मान लो चर्चा तो चल रही है कि देह से न्यारा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप ज्ञानज्योतिर्मय परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप हूँ। सोच तो यों रहा है या सुन रहा है और बीच में बोल दे हमारा लड़का। अरे ! रंग में भंग क्यों करते हो ? परमार्थ आत्मतत्त्व में लगने जा रहे हो तो कुछ अपने आप पर दया करो। तेरा तो कहीं कुछ है ही नहीं। किस वस्तु पर अधिकार है ? कोई दावा करके कह दे कि ईंट पत्थर पर, धन पर, मित्र पर, संयोग है, अनुकूलता है, उदय का निमित्तनैमित्तिक भाव है, रहा आये समागम, किंतु समागम के काल में भी अधिकार आपका किसी भी पदार्थ पर नहीं है। जो जन अपने आपको विविक्त शुद्ध चित्स्वरूप नहीं समझते हैं और मैं साधु हूँ, त्यागी हूँ, संन्यासी हूँ, मुझे ऐसा तय करना चाहिए, मुझे ऐसा त्याग करना चाहिए, ऐसे विकल्पों में पड़ा है वह आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ है। कितने भी वह क्लेश कर ले पर उन क्लेशों का लाभ उसे निर्वाण मार्ग के रूप में नहीं हो सकता।

वृत्ति की लक्ष्यानुसारिता—कोई एक चौबीस घंटे की समाधि लगाने वाला योगी राजा के यहाँ पहुंचा। राजा से कहा, ''महाराज हमारी आप चौबीस घंटे की समाधि देखो।'' राजा ने कहा ''अच्छा दिखावो अपनी २४ घंटे की समाधि, फिर जो चाहोगे वह इनाम दूंगा। तुरन्त ही साधु ने सोच लिया कि मुझे यह इनाम लेना है। क्या लेना है सो समाधि पूर्ण होने पर एकदम तुरन्त वही कह देगा। लगायी समाधि। आँखें बन्द, नकुवा बन्द, साधु बैठा है समाधि लगाए। जैसे ही २४ घंटे हुए तुरन्त कहता है ''लावो काला घोड़ा।'' उसने पहिले ही सोच लिया था कि राजा का काला घोड़ा बहुत अच्छा है, यही लूंगा। उसका लक्ष्य उसी पर था, जिसने लक्ष्य जिसकी सिद्धि का किया है उसको पद पद में वही दिखेगा जिसका जो लक्ष्य बना है वह बात यहां वहां की करके भी अपने भी अपने मुद्दे पर आ जायगा।

तप का मर्म—तपस्या क्या है? ज्ञाता दृष्टा रहें, रागद्वेष दूर हों, अपने स्वरूप में स्थिर हों, अपने स्वरूप से चलित न हों, बाहर में कहीं उपयोग ही न जाय, अन्तर्मुख हो जायें यही तो वास्तविक तप है, और बहिरंग तप जितने हैं वे सब इस परमार्थ तप की साधना के लिए हैं। जो देह से भिन्न अविनाशी इस कारणपरमात्मतत्त्व को नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। निर्वाण की सिद्धि निश्चय तप के बिना नहीं है।

द्रष्टव्य और प्राप्तव्य—भैया ! तप करके क्या पानी है ? क्या कोई नई चीज पीनी है? नया तो कुछ बनता ही नहीं है, जो सत् है उसका अभाव नहीं होता है, जो असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। आनन्दमय होने के लिए, निर्वाण पाने के लिए करना कुछ नहीं है किन्तु करना को ही छोड़ना है। अपने स्वरूप से अनभिज्ञ होकर विकल्प विषयकषाय, रागद्वेष, मन, वचन, काय की जो चेष्टाएं की जा रही हैं, इनको समाप्त करना है, नया कुछ नहीं करना है। जितना उल्टा चल रहे हैं, उतना मुकरना भर है। यह कारणपरमात्मतत्व तो मुझ उपयोग को सुखी करने के लिए अनादि से ही तैयार है। प्रतीक्षा मानों कर रहा हो कि रे उपयोग ! तू एक बार मेरी ओर दृष्टि तो करले, फिर मेरा तो पूरा वश चल सकता है कि तुझे संसार के संकटों से बचा दूं, किन्तु मैं समर्थ हूँ इस मुझसे तू विमुख है तो मैं तुझे बचा नहीं सकता। रे उपयोग ! तू इस मुझ कारणसमयसार की ओर रूचि तो कर, फिर मैं तेरे शुद्ध परिणमन का निर्माण करूंगा पर पहिली बार एक बार तो तू मेरी ओर उन्मुख हो।

निर्वाण का कारण परमशरण का आलम्बन—अहो ! यह कारणपरमात्मतत्त्व इस मुझको सुखी और उन्नत बनाने के लिए अनादिकाल से साथ है, पर यह मैं उपयोगात्मक इस अन्त:प्रकाशमान् प्रभुता पर दृष्टि नहीं दे रहा हूँ। देखो इस देह देवालय में विराजमान् है। अपना परमशरण परमात्मा, प्रियतम, वल्लभ पर इसकी दृष्टि हुए बिना धर्म के नाम पर भी कितना ही श्रम किया जाय किन्तु उससे मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इससे यह निर्णय रखना कि मैं अधिकाधिक समय इस ध्यान में बिताऊं कि मैं यह निरखा करूं अन्तर में कि इन चर्मचक्षुवों से, देह से सबसे अस्पृष्ट यह चित्स्वभावमात्र मैं आत्मतत्त्व हूं–ऐसा जो जानता है वह निर्वाण को प्राप्त हो सकता है।

श्लोक 34

आत्म-देहान्तर-ज्ञानजनिताह्लाद-निवृत:।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते।।३४।।

अज्ञानी और ज्ञानी की अन्तर्वृत्ति–पूर्व श्लोक में यह बताया गया है कि जो प्राणी देह से भिन्न आत्मा को नहीं जानता है वह बड़ा घोर तप भी करे तिस पर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। उसकी ही प्रतिक्रिया में इस श्लोक में यह कहा जा रहा है कि आत्मा और देह के भेद का ज्ञान होने से जो सहज आल्हाद उत्पन्न होता है उससे जो रचा भरा पूरा है, ऐसा पुरूष तपस्या के द्वारा घोर दुष्कृत को भी भोग रहा हो तो भी रंच खेद को प्राप्त नहीं होता। अज्ञानी जीव तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता और ज्ञानी जीव तपस्या के बल से घोर दुष्कृत कर्मफल को भी भोग रहा हो तो भी

रंच खेद को प्राप्त नहीं होता।

ज्ञान का प्रभुत्व—भैया ! खेद है कहां? सुख, दुःख, आनन्द सब कुछ इस ज्ञान की कला व विकला में भरा पड़ा हुआ है। जैसी कल्पना जीव की है वैसा ही जीव पर खेद अथवा सुख गुजरता है। किसने देह और आत्मा में भेद विज्ञान किया है, आत्मा तो आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानघन आनन्दमय भावात्मकतत्त्व है और यह देह शरीर वर्गणावों का पिण्ड पौद्गलिक भौतिक, देखने में आने वाला, छुवा जा सकने वाला ऐसा यह विनाशीक मायारूप है। इन दोनों में रंच भी समता नहीं है किन्तु व्यामोह की ऐसी लीला है कि अत्यन्त विषम भी है तो भी इनको यह व्यामोही एक कर डालता है। शास्त्र पढ़ लेने से ज्ञानी नहीं कहलाता, किंतु ज्ञानस्वरूप का ज्ञान हो जाने से ज्ञानी कहलाता है।

मर्मबोधशून्य अक्षरविद्या से विडम्बना—एक कथानक है। एक गुरु के पास कुछ शिष्य पढ़ते थे। उनमें एक शिष्य अपना पाठ खूब कंठस्थ कर लेता था। गुरूजी के एक लड़की थी, सो सोचा कि अपनी लड़की का इस शिष्य के साथ विवाह कर दें। सो उस शिष्य के साथ उसने अपनी लड़की का विवाह कर दिया। वह पढ़ तो बहुत गया था सो चार ६ माह बाद एक दिन ख्याल में आया एक श्लोक पढ़ा है कि 'भार्या रूपवती शत्रुः।' रूपवती स्त्री हो तो वह शत्रु है। उसका मर्म तो कुछ और है, पर उसकी स्त्री रूपवती थी, सो उसने उस श्लोक से यह शिक्षा ली कि इसकी नाक काट दें, रूप न रहेगा तो फिर हमारी शत्रु न रहेगी। उसने स्त्री की नाक काट दिया। गुरु ने क्रुद्ध होकर उसे घर से निकाल दिया। सोचा कि यह तो बड़ा मूर्ख आदमी है। चला गया घर से। सोचा किस ओर चलना चाहिए तो फिर शास्त्र का एक श्लोकांश याद किया–'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' जिस रास्ते से बड़े पुरूष जायें वह रास्ता चलने योग्य है। उस समय एक सेठ का लड़का गुजर गया था। बड़े-बड़े लोग श्मशान घाट पर उसे लिए जा रहे थे। सो उनके ही पीछे यह थोड़ा सा कलेवा लेकर चल दिया। वे लोग तो अपनी क्रिया करके वापिस हो गये, वह मरघट में बैठ गया।

मर्मबोधशून्य अक्षरविद्या के प्रयोग से आपत्ति—अब अक्षरभट्ट महाराज लगी थी भूख, सो खाना खाने की उसने सोची उसी समय एक श्लोकांश याद आया कि—'बंधुभिः सह भोक्तव्यम्।' भोजन बांधवों के साथ करना चाहिए। सोचा यहां बंधु कौन है ? फिर श्लोकांश याद किया। 'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बांधवः।' कचेहरी में और मरघट में जो साथ दे वही बान्धव है। सो मरघट में देखा कि यहां कौन बान्धव है ? सो एक गधा चर रहा था, उसने सोचा कि यही मेरा बान्धव है। सो उसके कान पकड़कर पास ले आया और आधा गधे को खिलाया आधा स्वयं खाया। चलो यह श्लोक भी पूरा हुआ। उसने फिर श्लोकांश याद किया 'बंधु धर्मेण योजयेत् तो भाई को धर्म में लगाना चाहिए। सोचा कि यह गधा हमारा भाई है तो इसे धर्म में लगाना चाहिए। अब धर्म को ढूँढ़ा। फिर श्लोकांश

याद आ गया 'धर्मस्य त्वरिता गतिः।' धर्म की बड़ी तीव्र गति होती है। वहां जा रहा था एक ऊँट, वह बड़ी तेज गति से चल रहा था, सोचा कि इसकी बड़ी तीव्र गति है, यही धर्म है। बंधु को इस धर्म में जोड़ना चाहिए। सो एक रस्सी से गधे को उस ऊँट के गले में बांधकर लटका दिया। अब वह गधा बड़े संकट में था, सो गधे वाले न दौड़कर इन की मरम्मत की व गधे को छुड़ाया तो शास्त्रज्ञान बहुत जाना पर उससे विद्या प्रकट नहीं हुई।

खेदविलय का उपाय ज्ञानानुभव—ज्ञान प्रकट होता है ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्त्व का अनुभव हो जाने से। ओह सबसे न्यारा यह ज्ञानमात्र यह नवाब साहब तो यह मैं खुद ही हूँ, जहां ऐसा बोध हुआ वहां उसे जो आनन्द प्रकट होता है, उस आनन्द को भोगनेवाला आत्मा बड़ी तपस्यावों को भी करे और उन तपस्यावों के द्वारा पूर्वबद्ध दुष्कृत क्लेशों में भी आए तो भी उसे रंच खेद नहीं होता है। संसार के प्राणी अपना खेद मिटाने के लिए किसी विषयभूत पदार्थ का संचय किया करते हैं किंतु यह उपाय तो इस प्रकार का है कि जैसे कोई घी डालकर अग्नि को बुझाना चाहता है। अग्नि जल रही हो कोई उसमें घी डाल कर बुझाने का यत्न करे तो वह आग बुझेगी या और बढ़ेगी ? वह तो बढ़ जायेगी। यों ही वेदना मिटाने के लिए राग बढ़ाने का यत्न करते हैं तो राग से उत्पन्न हुए क्लेश राग से मिटेंगे या बढ़ेंगे ? बढ़ेंगे। खून का दाग खून से ही कैसे मिट जायेगा ? नहीं मिट सकता। यों ही मोह और राग के परिणाम से वेदना हुई है, और उस वेदना को मिटाने के लिए राग और मोह का ही उपाय किया तो उससे शांति कहां मिल सकती है ?

संतों के उपसर्ग में भी खेद का अभाव—भैया ! पूर्वकाल में हुए बड़े तपस्वियों का स्मरण करो। किसी मुनि को उसके बैरी ने कंडा भरे हुए घर में बंद करके कंडों में आग लगा दिया। अब सोचो इससे अधिक क्लेश और क्या कहा जा सकता है ? किन्तु वह मुनि वहीं समाधिमरण करके बहुत उच्च देव हुआ। एक मुनि को किसी प्रेमी ने ही चूँकि उसे छोड़कर मुनि हुए थे, इस दुःख के मारे क्रोधवश उनकी चाम को चाकुवों से छीलकर नमक बुरक कर अपनी कषाय शांत की। लेकिन वह मुनि उस ही स्थिति में आनन्दमग्न होकर निर्वाण को प्राप्त हुआ। वह बहुत बड़ा वैभववान है जिसे सबसे न्यारे आत्मतत्त्व का निर्णय हो जाय। यहां हम आप लोग अधर्म की खिचड़ी हैं, न तो पूरा मोह है और न पूरे विविक्त स्वरूप के निर्णय रखने वाले हैं, तो भले ही आश्चर्य मालूम पड़े, किन्तु जिन्होंने निजस्वरूपास्तित्त्वमात्र अपने आत्मतत्त्व का दर्शन किया है उसको तो जैसे लकड़ी में आग लगा दी या दूसरे के सिर पर आग धर दी, इस ही प्रकार अपने सिर पर जलती हुई आग के ज्ञाता रहते हैं, उन्हें खेद नहीं होता है। यहीं अंदाज करलो, किसी में जब तक शामिल हैं, उसे अपनाते हैं तब तक उसके दुःख में दुःख माना करते हैं, और जैसे ही सम्बन्ध हट गया, फिर किस ही रूप परिणमन हो, खेद नहीं करते।

विभावपरिवर्तन का एक प्रसिद्ध दृष्टान्त—अंजना और पवनञ्जय का दृष्टान्त तो बड़ा प्रसिद्ध हैं। हनुमान जी को पवनसुत कहते हैं। कहीं वे हवा के पुत्र न थे किन्तु पवनकुमार अथवा पवनञ्जय राजपुत्र के पुत्र थे। जब सुना पवनञ्जय ने कि हमारे विवाह की चर्चा राजा महेन्द्र की लड़की अञ्जना से हुई है, तीन दिन बाद शादी की तिथि थी, लेकिन अनुरागवश वह तीन दिन का वियोग पवनञ्जय को असह्य हो गया। सो अपने मित्र प्रह्लाद से एकान्त वार्ता करके चले अञ्जना को देखने के लिए। सो गुप्त ही चले कि देखें आखिर अञ्जना कौन है? वे उसे छुपकर देखने लगे। वहां हाल क्या हो रहा था कि अञ्जना अपनी कुछ सखियों समेत बाग़ में घूम रही थी सो सखियां अञ्जना से जैसी चाहे बातें करें। अब तो तुम्हारी शादी होने वाली है, अजी उस राजपुत्र से हो रही है। यदि अमुक राजकुमार से शादी होती तो ठीक था, कोई सखी कहे–अजी क्या पवनञ्जय से सगाई हुई अमुक राजकुमार से शादी होती तो ठीक था। कोई सखी कुछ कहे, कोई कुछ कहे। पवनञ्जय सब सुन रहा था। छिपकर और अञ्जना लज्जा के मारे चुपचाप बैठी हुई थी। यहां पवनञ्जय ने क्या भ्रम किया कि हम इस अञ्जना को सुहाते नहीं हैं, सो उन्हें इतना गुस्सा आया कि सोचा इन सखियों का और अंजना का सिर उड़ा दें। देखो ठाढ़े बैठे में कैसी-कैसी विडम्बनाओं के परिणाम हो जाया करते हैं ? पर प्रहलाद ने रोक दिया कि ऐ राजपुत्र ऐसा मत करो। फिर पवनञ्जय के मन में ऐसा आया कि शादी बंद करा दें। फिर सोचा कि यदि शादी ही बंद करा दी तो फिर इसका फल ही क्या चखाया ? अच्छा शादी हो जाय, फिर इससे बोलेंगे ही नहीं इसका परिहार कर देंगे। शादी के बाद २२ वर्ष तक अञ्जना का त्याग किए रहे पवनञ्जय।

पवनञ्जय के विभावपरिवर्तन की द्वितीय प्रमुख घटना—यह रावण के पिता के समय की घटना है। तो रावण के पुरखों ने जिनका कि एकक्षत्र राज्य फैला हुआ था, सब राजावों की सेनाओं को बुलाया, तो वहां पवनञ्जय के पिता के पास भी संदेश आया था, तो पवनञ्जय ने निवेदन किया कि मेरे रहते हुए आप क्यों जायें ? चले पवनञ्जय, रात्रि को एक तालाब के पास अपना डेरा डाला, और क्या देखा कि चकवा चकवी वियोग के कारण चिल्ला रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं। ओह ! सोचा कि ये रात्रि भर का वियोग नहीं सह सकते, और मैंने निरपराध अंजना का २२ वर्ष तक परित्याग किया। रात ही रात छिपकर पवनञ्जय अंजना से मिलने के लिए चला। छिपकर इसलिए चला कि लोग यह न समझें कि गए थे युद्ध के लिए और कायर बनकर लौटकर आ गए। तो पवनञ्जय पहुंचे अंजना के महल में। उससे मिलकर फिर प्रातःकाल वहां से चल दिया। चलते समय अंजना ने कहा, कि ''आप बहुत दिनों में तो आये हैं, और किसी को पता नहीं।'' सारा लोक जानता है कि राजपुत्र अंजना का परित्याग किए हुए हैं, तो कम से कम माता-पिता से कहकर जावो कि आज अंजना के

महल में आये हैं। लेकिन कैसे कहें ? उसे तो अपनी शान रखनी थी। कहा कि 'यह अंगूठी लो, यही हमारी निशानी है।'

पवनञ्जय की अन्तिम विचित्र घटना—अब चल दिया पवनञ्जय वापिस। अब यहां अंजना के गर्भ था। सास ने घर से अंजना को निकाल दिया। कहीं उसको शरण नहीं मिली। भटकते-भटकते एक जंगल में पहुंची। जंगल में गुफा में ही रहने लगी। वहां वह बहुत आराम से रही। गुफा के देव रक्षक थे। जब पवनञ्जय ने ६ माह बाद वापिस आकर देखा कि यहां अंजना नहीं तो कहा ''हाय ! मैंने निरपराध अंजना को इतना कष्ट दिया है?'' दुःख के मारे पवनञ्जय खाना पीना छोड़कर उस अंजना की तलाश करने लगा। और पवनञ्जय ने यह संकल्प कर लिया कि यदि अंजना न मिलेगी तो अग्नि में जलकर मर जाऊँगा। बड़े पुरूषों की बातें होती हैं। अंजना के गर्भ था और उस गर्भ के कारण ही सास ने उसे घर से निकाला था। अंजना ने एक गुफा में, निर्जन स्थान में हनुमान जी को जन्म दिया था। उस समय उनके देव रक्षक थे। बड़ी कथाएँ हैं। तो आप यह देखो कि पहिले अंजना के प्रति पवनञ्जय का क्या भाव था, पश्चात छोड़ने में देर न लगी। फिर देखो अंजना के बिछुड़ जाने पर पवनञ्जय ने अपना मरण तक कर लेने का भाव बनाया। कैसा भावों का परिवर्तन होता है ?

लोक में अटपट, बेकायदा सम्बन्ध—जिससे अपना चित्त हट जाता है फिर उसकी ओर दृष्टि नहीं रहती है। ज्ञानी पुरूष आत्मा और देह में अन्तर ज्ञात कर रहा है। यह सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत अपरिणामी भावात्मक मैं आत्मतत्त्व हूँ, और यह देह पौद्गलिक है। जिसने प्रकट न्यारा जाना अपने आपको उसको जो आल्हाद उत्पन्न होता है, बस वही निर्वाण का कारण है। कठिन काम बन जाय तो सदा को आराम रहता है। और छोटे-मोटे कामों से तत्काल तो कुछ साता मालूम होता है पर सदा को निश्चितता नहीं आती। ये सब थोथे छोटे काम हैं राग, स्नेह, मोह के। क्या हैं ? अट्ट सट्ट सारा मामला है। आज तुम्हारे घर में जो जीव आये हैं बजाय इसके कोई और जीव आ जाते तो ? आपको तो मोह की प्रकृति पड़ी है, सो कोई आये उसी में मोह करते। कहीं किसी का नाम तो नहीं खुदा है कि मेरे मोह का यह विषय है। जब यह देह भी मेरे साथ नहीं रह सकता है तो अन्य पदार्थों की चर्चा ही क्या है?

देह का निर्माण—सिद्धान्त के अनुसार यह देह क्या है ? यह स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर कहो या औदारिक शरीर कहो दोनों का एक अर्थ है। उदार मायने स्थूल, और स्थूल शरीर का जो परिणमन है उसका नाम है औदारिक। इस औदारिक शरीर की रचना आहारवर्गणा के परमाणुवों से हुई है। जब तक इस जीव ने उन आहारवर्गणावों के परमाणुवों को ग्रहण नहीं किया था तब तक ये परमाणु बहुत शुद्ध पवित्र थे। जैसे ही इस जीव ने उन परमाणुओं को ग्रहण किया तो हाड़, मांस, खून, वीर्य

आदि नाना अपवित्र रूप परिणम गया।

मूल में अपवित्र कौन ?—वस्तुत: अपवित्र कौन है ? इसका निर्णय करिये। लोक में बच्चों में यह रीति है कि किसी बालक का पैर विष्टा में छू जाय तो वह बालक अछूत हो गया, जब तक कि वह नहा न ले। यदि वह अछूत बालक किसी दूसरे को छू ले तो वह भी अछूत, और दूसरा तीसरे को छू ले तो वह भी अछूत, इसी तरह चौथे को, यही चलता जाता है। जरा यह तो मालूम करो कि जड़ में अछूत कौन था ? वह एक बालक। तो जरा अपवित्रता का भी ध्यान करो। सड़कों के पास की जो नालियां है उनसे कितनी बदबू आती है, छींट गिर जाय तो नहाते हैं। क्या उन नालियों में अपवित्र चीज मरे हुए कीड़ों का कलेवर है ? तो वह जो मृत मांस है उसकी जड़ क्या है? उन कीड़ों का जीवित शरीर, और मृत शरीर भी अपवित्र है। उसका मूल क्या है? क्यों बना यह ऐसा शरीर? यों कि इस मोही जीव ने उन परमाणुवों का स्पर्श कर डाला तो जिसके छूने से यह शरीर अछूत बना तो अछूत शरीर है या मोही जीव है ? मोही जीव ही अछूत हुआ। जीव तो अछूत नहीं है, पर मोह के सम्बन्ध से जीव अछूत बन गया। तो जीव अछूत हुआ या मोह ? मोह अछूत हुआ। तो अपवित्र कौन रहा मूल में ? ये गंदी नालियां अपवित्र नहीं है, इनको अपवित्र करने वाला मूल में तो मोह भाव है।

व्यामोह की विचित्रता—फिर सोचिये नालियों का कारण शरीर। शरीर का कारण जीवित शरीर। जीवित शरीर का कारण मोही का सम्बन्ध और जीव के अपवित्र होने का कारण है मोह का सम्बन्ध। तो दुनिया में सबसे अपवित्र चीज क्या है? मोह। मोह से गन्दा मल नहीं है, विष्टा नहीं है, कोई सड़ी गली चीज उतनी गन्दी नहीं है जितना गन्दा मोह परिणाम है। कोई मनुष्य विष्टा को देखकर ग्लानि करे, और थूक दे और मांस को देखकर ग्लानि न आए और खाते हुए भी ग्लानि न करे तो यह बतलावो कि सबसे अधिक ग्लानि की चीज, विष्टा से भी अपवित्र तो मांस है, मगर दृष्टि व्यामोह में ऐसी विचित्र हो जाती है कि सब अट्टसट्ट बर्ताव चलता है।

ज्ञानप्रकाश—ज्ञानों में ज्ञान यह उत्कृष्ट ज्ञान है कि सबसे न्यारा, देह से भी जुदा ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व का ज्ञान बना रहना। धन, वैभव, हाथी, घोड़ा, मकान ये कुछ काम न आयेंगे किन्तु ज्ञानमय आत्मा का अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान हो जाय तो यह ज्ञान संसार के समस्त संकटों को दूर कर देता है। इस कारण सब बलपूर्वक यत्न करो और ज्ञानसम्पादन का यत्न करो। हिम्मत ऐसी बनावो। जितना आ गया ठीक है, न रहेगा ठीक है। उसके आने जाने से मेरी आत्मा का सुधार बिगाड़ नहीं है, पर अविद्या और विद्या का वास होने से आत्मा का बिगाड़ और सुधार है। जैसे जिसको जिससे कोई सुख की आशा नहीं है तो उसके द्वारा बहुत मनाये जाने पर भी उसका आकर्षण नहीं होता। यों ही ज्ञानी संतों को किसी भी परपदार्थ से हित की आशा नहीं है। सो किसी

भी पदार्थ के संग से, मनाए जाने से इनका उसकी ओर आकर्षण नहीं होता है। ज्ञान का चमत्कार एक अद्भूत चमत्कार है। ज्ञान आये तो सारा धन वैभव काक बीट की तरह प्रतिभास होता है। अपनी चीज अपने को मानना क्यों कठिन हो रहा है? गुप्त भान करें, ज्ञानमय यत्न करें और ज्ञानप्रकाश पाकर सदा सुखी रहने का परिणमन पायें।

श्लोक 35

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स त्तत्त्वं नेतरो जनः।३५।

अलोलचित्त व लोलचित्त परिणाम—जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादिक तरंगों से चलित नहीं होता है, अलोल रहता है वह ही पुरूष आत्मा के मर्म को देख सकता है। दूसरा रागद्वेष की तरंगों से खिंचा हुआ पुरूष आत्मा के मर्म को नहीं जान सकता। बड़ी तपस्याएँ भी कर ली जायें किन्तु अन्तर से रागद्वेष नहीं हटते तो अहो आत्मतत्त्व को देखना तो दूर रहा, यदि बुद्धिपूर्वक रागद्वेष बसाया हो और साधु भेष रखकर जगत में अपनी मान्यता का विस्तार किया हो तो वह उनके लिए अहित की बात है और ऐसे कपटभाव का फल अत्यन्त निम्नकोटि की गति में पहुंचना है।

निजदर्शन का कारण स्वच्छता और निस्तरंगता—जैसे किसी निर्दोष जल वाले तालाब में कोई पुरूष अपने चेहरे को देख लेता है तो उस पानी में अपना चेहरा दिखने के वहां दो कारण हैं–एक तो पानी में गंदगी का न होना, दूसरे पानी में लहरें न उठना। कोई पानी लहरों से तो दूर है किन्तु गंदा है वहां अपनी छाया नहीं दिख सकती है। पानी गंदा तो रंच भी नहीं है पर लहरें चल रही हैं उसमें भी अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखता है। ऐसे ही मोह की तो गंदगी न हो और रागद्वेष की तरंगें न उठें ऐसा चित्त में, ज्ञान में आत्मा का तत्त्व, परछायी स्वरूप दिख सकता है।

मोहान्ध की गरीबी—मोह भाव जैसा अंधकार इस लोक में दूसरा कुछ नहीं है। बतावो, न कुछ सम्बन्ध, सब पराये, सब भिन्न, कोई किसी गति से आया, कोई किसी गति से आया। उनमें से एक दो जीवों को छांटकर जो कि मोही हैं, अज्ञानी हैं, संसार के जाल में फंसे हुए हैं ऐसे मोही अपवित्र जीवों के लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ समर्पण कर देना और अपने आपको सेवक की तरह रखना, प्यासे रह जायें, भूखे रह जायें, खुद दुःखी हो जायें पर उन दूसरों को प्रसन्न ही निरखना चाहते हैं ऐसी स्थिति बतावो कितनी गरीबी की स्थिति है।

आशय की गन्दगी में यथार्थता का अदर्शन—जिसका मनोजल रागद्वेष की तरंगों से चलायमान है उसको तत्त्व नहीं दिखता और उन साधुवों को भी, जिनके मोह नहीं रहा किन्तु रागद्वेष की वासना

बसी है और तरंगें चल रही हैं ऐसे साधु संतों को भी उस तत्त्व का दर्शन नहीं है। इन कल्लोलों का कारण होता है पर्यायबुद्धि। यह मैं हूँ, मैं साधु हूँ और यह जनता सब सेवक है, गृहस्थ है, श्रावक है, मैं इतने स्टेण्डर का हूं, मुझे यों देखकर चलना चाहिए, क्योंकि मैं मुनि हूँ—ऐसी सारी प्रतीतियां ये मोह भरी प्रतीतियां हैं। कितना मोह भरा है? जितना मोह गृहस्थ को हैं उतना ही मोह उस साधु में है जो अपने आपको सच्चिदानन्द आनन्दस्वरूप न जानकर मानता है कि मैं साधु हूँ। जैसे कोई गृहस्थ मानता है कि मैं गृहस्थ हूँ तो उसने भी पर्याय में आपा माना। तो एक ने कोई भेष रखकर माना कि मैं साधु हूँ तो उसने भी पर्याय में आपा माना।

मोह की एक रेखा—भैया ! मोह मोह के अंधकार में अंतर नहीं हुआ करता। रागद्वेष में अन्तर होता है। मोह तो जब मिटा सो मिटा। रागद्वेष तो कम हो जाता है पर मोह में एक ही फैसला है। है तो है, नहीं है तो नहीं है। कोई पुरूष केवल बाप बेटा ही हो या पुरूष स्त्री ही हो, एक ही हो घर में और यह सोचे या कहे कि मैंने बहुतों का मोह दूर कर दिया है सिर्फ एक प्राणी भर का मोह है। सो शायद बहुत कुछ सम्यक्त्व तो हो गया होगा। केवल एक प्राणी का मोह है, इतनी भरकसर है। पर इतनी भर कसर नहीं है, जितनी कसर १० प्राणियों में मोह रखने वाले को हो। आँखों के आगे तिलभर एक कागज का टुकड़ा चिपका हो और चाहे ढेरों कागज सामने रखलो-न दिखने का काम दोनों दशावों में एक सा है। १० प्राणियों में राग करने से और हजार में और लाख में अपना अनुराग करने से कहो वह अनुराग पसरकर पतला हो सकता है और उतनी दृढ़ शल्य करने वाला न होगा। और एक ही प्राणी में केन्द्रित हुआ राग गाढ़ा राग है। सो मोह भी ऐसा समझे, मैं श्रावक हूँ ऐसा समझे, मैं त्यागी हूँ, साधु हूँ क्षुल्लक हूँ ऐसी प्रतीति करे, सब मोह की एक लाइन में पड़े हुए हैं।

ज्ञानी की रूचि और अज्ञानी की वासना—जैसे ज्ञानी गृहस्थ को दुकान के या बाहरी काम के करने में झंझट लगता है और चूँकि ज्ञानकला जगी है, ज्ञान है सो व्यवस्था इतनी सुन्दर रखता है कि दूसरे नहीं रख सकते। फिर भी वह ज्ञानी गृहस्थ विरक्त भाव से बाहरी कामों को करता है। करना पड़ता है 'गले पड़े बजाय सरे।' जैसी स्थिति हो जाती है। ऐसे ही साधुसंत पुरूषों को अपनी चर्या से चलना पड़ता है, उनकी स्थिति हो जाती है पर रूचि इस ओर नहीं रहती है कि मैं साधु हूँ, मुझे इस तरह चलना चाहिए। ऐसा ख्याल करे तो यह बच्चों जैसा खेल हो गया। बच्चे लोग भी खेल में कभी कुछ से कुछ बन जाते हैं–चोर बन जायें, सिपाही बन जायें अथवा बरात के खेल हैं–यह दूल्हा है, यह इनका बाप है, यह लड़की है। वे ८, १० वर्ष के बच्चे खेल में ऐसी कल्पनाएँ कर बैठते हैं। ऐसे ही इस चित्स्वभाव के परिचय से रहित अज्ञानी गरीब, मिथ्यावासित हृदय अपने को जो परिणति प्राप्त हुई है तद्रूप विश्वास रक्खे हुए हैं।

मोह की भीतरी अज्ञात चोट—भैया ! जरा गम्भीरदृष्टि से तो देखो कितना अन्तर में है यह सम्यक्त्व प्रकाश। कोई मुनि किसी शत्रु के द्वारा कोल्हू में भी पेला जा रहा हो और फिर भी मुनि उस शत्रु पर द्वेष न करता हो। विवेक रखता हो कि मैं साधु हूँ, मुझे द्वेष न करना चाहिए, ऐसी प्रतीति यदि है तो द्वेष की तरंगों की तो बात क्या कहें अभी मोह और मिथ्यात्व की गंदगी भी है। एक आत्मा के स्वरूप से नाता रखकर ज्ञायक स्वरूपमात्र मैं हूँ ऐसी ही सुध बनाते हुए अब चूँकि बहुत सा रागद्वेष भाव घट गया है तो अब कौन कपड़ों के संभालने में लगे, कौन घर की संभाल में लगे, कौन आरम्भ के कार्यों में लगे, सो सहज ही ऐसी उनकी चर्या चलने लगती है जो साधुधर्म के अनुकूल है। यह उनकी अंतरंगचर्या है और जो यह कहे कि मैं साधु हूँ, मुझे यों करना चाहिए, यह उसका हठ योग है, सहजयोग नहीं है। अब जानो कि रागद्वेष और मोह में कल्लोल और गंदगियों कितनी गहरी हुआ करती हैं।

संतोष्य और असंतोष्य कृति—मान लो धर्म के नाम पर कोई थोड़ा बहुत कार्य करके कोई पूजा करले, विधान करले और अपने को माने कि मैंने सब कुछ कर लिया है तो यह उसका भ्रम है। कितने ही भादों व्यतीत कर डाले, कितनी ही दसलाक्षणी गुजार डाली और जब-जब दसलाक्षणी आती है तब तब उतनी ही बातें जानन की आदत बीसों, पचासों वर्षों से पड़ी है। उतना ही कार्य करके अपने को कृतार्थ मान लेते हैं। किन्तु धर्म का मर्म कितना गहरा है ? हम कभी इन धार्मिक प्रसंगों में सर्व परवस्तुवों को भूलकर केवल ज्ञानप्रकाश का ही अनुभव ला सकते हों ऐसी स्थिति आए तो संतोष कीजिए। परिवार के, वैभव के या समाज के बीच कुछ भलीचेष्टा कर लेना इसका संतोष न कीजिए। संतोष होना चाहिए निज ज्ञानसुधारस के स्वाद का; जिसका ज्ञानजल, मनोजल, रागद्वेषादिक की कल्लोलों से अलोल है वह ही आत्मा का तत्त्व देख सकता है। धर्म में किसी को दिखाना नहीं है। धर्म तो सहज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि पर निर्भर है। जो कर सके उसी का भला होता है। पूजा में पढ़ा करते हो ना–चाहे अपवित्र होऊँ, चाहे पवित्र होऊँ, चाहे अच्छे आसन से खड़ा होऊँ, चाहे अटपट खड़ा होऊँ, कैसी भी अवस्था में होऊँ, यदि इस आत्मतत्त्व का ध्यान है, परमात्मस्वरूप का स्मरण है तो वह सर्वत्र पवित्र है।

चर्म निरीक्षण का व्यामोह—शब्द तो कुछ कटु या कठिन है, पर यह तो बतावो कि चमड़े की परीक्षा रखने वाले का क्या नाम रक्खा है इस दुनिया के लोगों ने ? यह गाय का चमड़ा है, यह भैंस का चमड़ा है, यह मुलायम है, यह ठीक है, इसकी जिसे परीक्षा होती है उसे क्या कहते हैं? कुछ कठिन पड़ जायगा। हम यदि अपने ही चमड़े को ही निरखते रहें–बड़ा प्यारा है, बड़ा अच्छा है, ठीक है, अथवा राग करके दूसरे की चमड़ी को देखकर तो सुनने में, कहने में बुरा न लगता हो तो कह डालो मन में ? जो चर्म के परीक्षक को कहते हो।

चर्म के उपहासकों को सम्बोधन—एक बहुत पहिले ऋषि हो गए हैं जिनका नाम था अष्टावक्र। जिसके आठों अंग टेढ़े थे। एक बार सभा भरी थी। कहा कि कुछ हम भी बोलें। सो जब वह खड़े हुए तो उनकी शक्ल देखकर दरबार के लोग सब हँसने लगे। जिसको कुछ थोड़ा इस इतिहास का पता हो वह खुद जान जायें कि अष्टावक्र ने लोगों को क्या सम्बोधन करके बोला और फिर उसका विश्लेषण किया कि जब आप सब लोग मेरे चमड़े का खूब निरीक्षण कर सकते हैं तो मैंने आपके परिचय को भी जान लिया है। सब अपनी अपनी सोचो कि हम अपनी सोचें कि हम अपनी इस देह से कितना प्यार रखते हैं? मानों इसके अतिरिक्त मैं और कुछ हूँ ही नहीं। अपने सत्त्व से विस्मृत हो जाते हैं तो हम चर्म के ही तो निरीक्षक रहे।

ज्ञान की अबाध गति—भैया ! ज्ञान में तो वह बल है कि बड़े-बड़े व्रजों को भी पार करके लक्ष्य पर यह ज्ञान पहुंच जाता है। आपके घर में कोई दो तीन कमरों में से गुजर कर कहीं तिजोरी रक्खी हो और उस तिजोरी में भी और भीतर तिजोड़ीनुमा किवाड़ हों, उसके भी भीतर ट्रंक हो, उसमें भी छोटी पेटी हो, उसमें भी डिब्बी में आपका कोई रत्न, हीरा, अंगूठी कुछ रक्खी हो, आप यहां बैठे हैं, आप उसे जानना चाहेंगे तो इस ज्ञान को वहां तक पहुंचने में कोई रूकावट डाल देते है क्योंकि किवाड़ लगे हैं तो ज्ञान दरवाजे पर बैठा रहे, किवाड़ खुलें तो कमरे में जाऊं। तिजोरी बन्द है तो ज्ञान तिजोरी के पास बैठा रहे और कहे कि हम तो अमुक हैं, यह तिजोरी लगी है सो उस अंगूठी के जानने में हमें कुछ रूकावट आती हैं। हम यहां बैठे हैं, किवाड़ों को चीरकर, तिजोरी के फाटक को चीरकर, सबको पारकर वह ज्ञान सीधे उस अंगूठी को जान लेता है। तो जैसे बाहर की चीजों में ज्ञान को भेजने में इतने कुशल बन रहे हैं तो इस ज्ञान को अपने ही ज्ञानस्वरूप में भेजने में तो कोई पर्दे भी आड़ में नहीं आते। यह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, सो अपने ही ज्ञान को जानने में तो कोई बीच में आड़ भी नहीं आया करती है। फिर भी क्यों हम इस ज्ञानतत्त्व के निरखने में वंचित रहा करते हैं ?

प्रमादपरिहार की आवश्यकता—कोई कहे कि हमारा ज्ञान बाहरी बाहरी रंगों में रंगा करता है तो उसको बहुत भीतर वापिस लेने में, स्वरूप में लेने में बहुत सी आड़ें तो हैं, चमड़ा है, हड्डी है, खून है, मांस है। अरे ! तो ज्ञान दूर की तिजोरियों को भी पार करके पहुंच जाता है इष्ट वस्तु पर, वह ज्ञान इन सर्व को पार करके अन्तर में रहने वाले निज प्रकाश को क्या पा नहीं सकता ? पर प्रमाद किया जा रहा है। मोक्षमार्ग का प्रमाद कोई पहलवान हो, दंड बैठक लगा रहा हो, कुश्ती करता हो, शरीर बनाता हो तो वह भी प्रमादी है मोक्षमार्ग का। निज अन्तस्तत्त्व का निश्चय करना, उसका ही ज्ञान करना, उसमें ही रमण करना यह कार्य तो निष्प्रमाद का है और इससे विमुख होकर बाह्यपदार्थों में रमना, यह कार्य प्रमाद का है। अब निष्प्रमाद होकर अपने ज्ञाननिधि की रक्षा करो।

अवसर चूकने का परिणाम—जैसे जिसको वेदना होती और वह अपनी वेदना की बात दूसरे को सुनाता है और दूसरा कोई हंसी में टाल देता है तो वह कहता है कि भाई बात हंसी में न टालो। यों ही यह आत्मतत्त्व की बात हंसी में टालने की नहीं है। यदि अन्तर में ऐसा पुरूषार्थ न जगाया कि मोहपटल को बिल्कुल दूर करें, हम निज स्वरूप का प्रकाश तो पा लें, देख लें, झलक तो कर लें, यदि ऐसा पुरूषार्थ न कर सके तो ये मायामय पुरूष कुटुम्ब परिजन मित्र संग ये तो शरण हैं ही नहीं। स्वयं अशरण होकर, बराक दीन बनकर इस जगत में लापता रूलते फिरेंगे। धन वैभव की क्या वकत है ? क्या करोगे इस धनवैभव का, खूब हृदय से सोचो यह जब मोह की नींद में सो जाता है, और मायामय लोगों का संग करता है, उनमें रहता है, बातचीत होती है, अपनी पोजीशन की पड़ जाती है, इज्जत रखना चाहता है तो जो इतना बड़ा अपराध करे उसको वैभव से सिर मारना ही पड़ेगा।

परिचयी और अपरिचयी से आशा क्या—भैया ! जो यह जानता है कि मैं गुप्त हूँ, इस मुझ ज्ञानस्वरूप में तो कोई बात भी नहीं है, यहां मेरा कोई परिचय वाला नहीं है, अपने आप में-ऐसा विचारे अपने स्वरूप को देखकर। यदि कोई इस मुझ ज्ञानस्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है तो उनका जानना एक सामान्य जानना हुआ ना। उस ज्ञाता से सम्मान अपमान ही नहीं हो सकता। उसमें इस मुझ व्यक्ति का परिचय ही नहीं है, और कोई इस ज्ञानस्वरूप को नहीं जानता है, इस चर्म को ही कुछ जानकर मानता है तो इस चर्म का क्या सम्मान रखना? यह तो एक दिन जला दिया जायगा। भीतर को कोई पहिचानता नहीं तब दूसरों से क्या आशा करनी ? यह चर्म मैं नहीं, तो किसलिए अपने चित्त पर इस परिग्रहभाव का, मूर्छा भाव का बोझ लादना?

कुछ थकान तो दूर करो—भैया ! लोग किसी बड़े शारीरिक श्रम के कार्य से थक करके भी तो चन्द मिनट आराम करते हैं। घसियारे, लकड़हारे भी तो ५ मिनट को अपने बोझे को पेड़ से टिकाकर, हाथ पैर पसारकर अपनी थकान मिटा लिया करते हैं, किन्तु यह व्यामोही पुरूष अपने अन्तर की थकान से, जो ममता के बोझ को विकल्पों को लादे हुए है उस लदान की थकान से थककर भी यह पाव सेकेण्ड भी ऐसा यत्न नहीं करता कि एक बार तो सारा बोझ अपने उपयोग से उतार कर केवल शुद्ध ज्ञानमात्र जैसा मैं सहज हूँ ऐसा ही रहकर परमविश्राम तो पा लें।

अलोल ज्ञानसिन्धु में स्वच्छ उपयोग शय्या पर अच्युत प्रभु का निवास—जिसकी आत्मा रागद्वेष की लहरों से लोल है, चंचल है वह पुरूष धर्म के नाम पर बड़े-बड़े परिषह उपसर्ग भी सह ले तो भी वहां परमात्मतत्त्व का दर्शन नहीं होता है। इस परमात्मतत्त्व का दर्शन वही पुरूष कर सकता है जिसका यह मनरूपी जल रागद्वेष की कल्लोलों से तरंगित नहीं है। कहते हैं ना कि जब जरा गर्दन झुकावो देख लो। अपने ही अन्तर के आयने में जब प्रभु की शक्ल है, थोड़ा विकल्पों को तोड़कर

अन्तर में दृष्टि करना है, बस यहीं देख लो। ऐसा अनुपम पुरूषार्थ करने के लिए एक त्यागभाव की आवश्यकता है और वह त्यागभाव भावात्मक हो, गृहस्थ हो तो परवाह नहीं पर अपना ज्ञान बादशाह तो अपने आप में है, केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निहारना है। बस इस निरखने में, इस झलक में परमात्मतत्त्व के दर्शन होंगे, जिसके दर्शन करने से भव भव के समस्त पाप, संकट, कर्म नष्ट हो जाया करते हैं। इस तत्त्व को वहीं देख सकता है जिसके मोह की गन्दगी न हो और रागद्वेष मोह की तरंगे न हो।

श्लोक 36

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मन:।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्तत:।।३६।।

तत्त्व और भ्रान्ति—मन का अविक्षिप्त रहना, रागादिक परिणति से परे रहना तथा देह और आत्मा को एक मानने के विपरीत आशय से रहित जो ज्ञान का होना है इस ही को मन कहा गया है। यहां मन शब्द से ज्ञान का अर्थ लेना। जो ज्ञान अविक्षिप्त है वह तो आत्मा का तत्त्व है और और जो विक्षिप्त मन है वह आत्मा की भ्रान्ति है।

विक्षिप्त मन की प्रतिक्रिया—जब मन विक्षिप्त रहता है उस समय इस जीव को अन्तर में आकुलता रहती है। जरा अपने जीवन की पहिली कृतियों को तो सोच लो, क्या क्या कृतियां कर डाली गयी हैं ? आज उनके फल में कुछ भी लाभ वाली बात सामने नहीं है। बचपन में कैसी-कैसी क्रीड़ावों और अज्ञान दशावों में खेलते रहे ? आज विदित होता है कि वह सब कोरी अज्ञान दशा थी। जवानी में सब विकारों में प्रमुख विकार एक काम होता है। उसकी चेष्टा में इस जीव से क्या से क्या बर्ताव किया? कितने ही मनुष्य तो बहुत परिवार के संकट आने से यह कहने भी लगते हैं कि यह सब विडम्बना एक स्त्री परिग्रह के कारण हुई है। स्त्री परिग्रह के कारण नहीं, किन्तु कामवासना के कारण हुई है। जिस मन में रागद्वेष बसे रहते हैं वह मन विक्षिप्त रहता है।

ज्ञान के अविक्षेप की आवश्यकता—लोग चाहते हैं कि कम से कम जब प्रभु का भजन किया जा रहा हो, सामायिक में कुछ भक्ति की जा रही हो तो मन स्थिर रहे ऐसी भावना जगती है, परन्तु शिकायत रहती है कि सामायिक में, जाप में मन स्थिर नहीं रहता। जब रागभरी वासनाएं बहुत बनी हुई हैं तो मन अविक्षिप्त कहां से हो? कोशिश यह होना चाहिए कि हम तात्विक भेदविज्ञान प्राप्त करें जिससे परपदार्थों की रूचि हटे और मैं अपने आप में अपने स्वरूप की प्राप्ति करूँ। वहां ज्ञान अविक्षिप्त रहेगा।

विक्षेप का कारण विषय प्रीति—भैया ! इस जीव ने किया ही क्या ? सिवाय इन्द्रिय विषय और मन का विषय भोगने के ६ कामों में यह मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय भोगना, रसना इन्द्रिय से स्वाद लेना, घ्राणेन्द्रिय से सुगंध लेना, नेत्रेन्द्रिय से रूप देखना, कर्णेन्द्रिय से राग सुनना या अपने यश कीर्ति की नामवरी चाहना–इन ६ इच्छावों के कारण ही यह जीव विक्षिप्त बना है, उन्मत्त हो रहा है।

मोहियों की उन्मत्तता—अहो, देखो मोहियों द्वारा कैसी पागल की भांति स्वरूप विरूद्ध चेष्टाएं की जा रही हैं ? सारा जहान प्राय: इसी में चतुराई समझता है कि अपने विषयों के साधन सही बनायें। उन्हें चतुराई से भोगकर इनमें ही बड़प्पन समझा जा रहा है और इसी आधार पर लोग बड़ा माना करते हैं। अमुक सेठ साहब बहुत बड़े आदमी हैं। बड़े आदमी हैं इसका तात्पर्य इतना ही है कि वैभव है और इन्द्रिय के विषयों के साधन भी बने हुए हैं, पर जिस बात के कारण लोग बड़ा समझते हैं वे सब बातें इस जीव की तुच्छता की हैं, भूल है। इसका स्वरूप तो प्रभुवत् अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दस्वरूप है, किन्तु विषयों आशा में इसने अपने उस अनन्तस्वरूप को खो दिया है, विक्षिप्त बना हुआ है, पागल बना हुआ है।

मोहियों की उन्मत्तचेष्टा- कोई किसी से प्रेमभरी बात करता, तो किसी से द्वेष भरी बात कहता, तो कोई कुछ भी बकता। आज जिससे प्रेम कर रहा है कल उससे द्वेष करने लगता, आज जिससे द्वेष किया जा रहा है कल उससे प्रेम करने लगता। यह सब क्या है? पगलों की चेष्टाएँ है। बाह्यपदार्थ जिनका स्वरूप मेरे में त्रिकाल प्रविष्ट नहीं हो सकता, जो मेरे से सर्वथा भिन्न है उसे रखे-रखे फिरता है, उसकी वृद्धि में कल्पनाएँ बनाए फिरता है। अरे आत्मन् सोचो तो सही अकेले ही तो तुम जन्मे हो और अकेले ही मरण को प्राप्त होगे और इस जन्ममरण के बीच के जो दिन हैं उनमें भी तू अकेले ही कल्पनाएँ करता रहता है, अकेले ही सुख भोगता है, अकेले ही दु:ख भोगता है। क्या है तेरे में लगा। किसके लिए तू इतना श्रम किये जा रहा है?

अविक्षिप्त होने के लिये उलहनारूप शिक्षण- हे आत्मन् तेरे चित्त में प्यार करने की कल्पना उठती है तो तू इस प्यार को इतना क्यों नहीं फैला देता कि वह प्यार फिर प्यार ही न रहे। सब जीव तेरे ही स्वरूप के समान तो है। फिर उनमें यह छटनी करना कि यह मेरा है, यह पराया है, यह क्या पागलों जैसी चेष्टा नहीं है। तू जिसे पराया मानता है वही तेरे घर में उत्पन्न हो अथवा तेरा मित्र बन जाय तो अपना मानने लगेगा। जिसे तू अपना मानता है, कोई प्रतिकूल बात बन जाय तो उसे तू शत्रुवत् मानने लगेगा। सब जीव तेरे से अत्यन्त भिन्न एक ही प्रकार से हैं पर अपने स्वभाव को भूलकर बाहर में नाना कल्पनाएँ मचा रहा है, विक्षिप्त हो गया है, अपने आपको भूल गया है, बाहरी व्यवस्थावों में बड़ा चतुर बन रहा है और अपनी सुध खोने में भी प्रथम नम्बर पा रहा है।

बाह्यदृष्टि की व्यवस्था- कोई एक बहुत शान रखने वाले, व्यवस्था बनाने वाले बाबू साहब थे। तो शाम के समय अपने प्रधान निवास के कमरे को सजा रहे थे और नाम लिखते जा रहे थे कि इस जगह यह चीज रक्खी जायेगी। यहां जूते, यहां घड़ी, यहां छड़ी, यहां कमीज, कोट सब लिखते जा रहे थे और उस जगह उस चीज को रखते जा रहे थे। अब 9।। बज गये। व्यवस्था की धुन बराबर जारी है और उसी प्रसंग में पलंग पर लेट गये तो पलंग की पाटी पर ''मैं'' लिख दिया अर्थात् यहां मैं धरा हूं, यहां घड़ी धरी है, वहां छड़ी धरी है। अब सोने के बाद जब उठे तो उठकर सब व्यवस्था देखने लगे। ओह ठीक है। घड़ी की जगह घड़ी हैं, जूतों की जगह जूते हैं, कोट की जगह कोट है, ठीक है सब निरखता जा रहा था। अपनी चारपाई की पाटी को देखा तो वहां लिखा था मैं। सो खड़े होकर उस पलंग को टोकने लगा और सब कुछ तो मिल गया पर पलंग पर मैं नहीं मिला। पलंग के बीच के छेदों में भी देखा, लाठी से ठोक कर भी देखा कि कहीं मैं धँसा होऊं। बहुत ढूँढ़ा पर उसका मैं नहीं मिला।

मैं कहां गुम गया- अब वह बाबू बड़ा दु:खी हो गया। अरे मैंने अपना मैं खो दिया। झट अपने नौकर को बुलाया, अरे मनुवा बड़ा गजब हो गया। क्या हो गया बाबू जी? अरे मेरा मैं गुम गया। सो वह पागलों की जैसी बात सुनकर हँसने लगे। बाबू जी कहने लगे, अरे तू हँसता क्यों है, मेरा तो मैं गुम गया। तो नौकर कहता है बाबू जी परेशान न हो। आप आराम करो, आपके ''मैं'' का मैं जिम्मेदार हूं। आपका ''मैं'' जरूर मिल जायेगा। उसे शांति हुई, उसने सोचा कि इस नौकर ने कहीं देखा होगा, मिल जायेगा, पुराना नौकर है झूठ नहीं बोल सकता। सो पलंग पर लेट गया। थोड़ी देर बाद नौकर कहता है कि मालिक देखो आपका मैं मिल गया या नहीं। तो पलंग पर ही तो टटोलना था। ज्यों ही ऊपर हाथ फेरा तो कहता है कि ओ, यस, मेरा ''मैं'' मिल गया। तो जैसे वह अपने को ढूँढ़ने के लिए पागलभरी चेष्टाएँ कर रहा था, उसको मैं का पता न था, उससे भी अधिक पागल ये संसार के व्यामोही जीव हैं। वह कम से कम ''मैं'' को ढूँढ़ने की तलाश में तो था, पर ये जीव तो उस 'मैं' की तलाश में भी नहीं हैं।

मोह की प्रकृति आकुलता- भैया इस आत्मभ्रांति का फल क्या मिलता है कि परपदार्थों को ही आत्मसर्वस्व मानकर, अज्ञान अंधकार में रागद्वेष मोह से पीड़ित होकर विकल्पों में जुटे चले जा रहे हैं। यह विक्षिप्त मन आत्मा की भ्रान्ति है। अपना कर्तव्य है कि इस प्रीति की स्थिति से हटें और अविक्षिप्त ज्ञान का आश्रय करें। कोई सार मिलता हो मोह में तो किए जावो मोह, कुछ अधर्म नहीं है। शांति के लिए ही तो सब कुछ करना है। यदि मोह में वास्तविक शांति हो तो खुली घोषणा हो जायेगी कि खूब किए जावो मोह, किन्तु मोह में शांति त्रिकाल नहीं हो सकती। चाहे अग्नि शीतल हो जाय, चाहे सूर्य पश्चिम में ऊग जाय, चाहे पत्थर पर कमल उगने लगें, चाहे बालू से तैल निकलने लगे, पर यह कभी नहीं हो सकता कि मोह परिणाम से शांति प्राप्त हो। मोह का स्वभाव ही ऐसा है कि वह आकुलता को उत्पन्न करता हुआ उदित होता है।

पुण्य के उदय में भी शान्ति का अभाव- इस लोक में लोग पुण्य की बहुत तारीफ करते हैं और पुण्यबन्ध की बड़ी आशा रखते हैं, पर जरा दृष्टि पसार कर तो देखो कि पुण्य के उदय में कष्ट आया करता है या आराम मिला करता है। देखो श्रीराम, सीता, श्रीकृष्ण, बलदेव, और भी अनेक उदाहरण है जिनके पुण्य

का कोई ठिकाना न था। उस पुण्य में मिला क्या? तो सारे जीवन के चरित्र को देख लो- कोई न कोई खटपट, विडम्बना, आपत्ति लगी ही रही। लो अब वन को जा रहे हैं, राज्य छोड़ दिया है, जंगल में भी अनेक घटनाएं गुजर रही हैं, लो सीताहरण हो गया है, अब उसमें विह्वल हो गए हैं, अब युद्ध हुआ है, अब पुन: सीता को फिर वन में छुड़वा दिया है, फिर बड़ा युद्ध लव और कुश से हो रहा है, फिर सीता को घर ले आया गया तो अग्निकुण्ड का हुक्म सुना दिया। ओह ! सारा जीवन देखो विपत्तियों से बिछा हुआ ही तो मिला। किसी महापुरुष को देख लो- पुण्य के उदय जिनके हुआ है उनको कितनी बाधाएं और विडम्बनाएं हुई हैं?

पुण्य से विपत्तियां- फूलों को देख लो। जंगल में बाड़ियों पर नीले फूल बहुत फूले रहते हैं, जिनमें गन्ध नहीं, जिनका आकार भी सुन्दर नहीं उन फूलों को कौन तोड़ता? कोई छूता भी नहीं है, और गुलाब, बेला, चमेली, चम्पा इन फूलों को तो जरा ज्यादा पुण्य का उदय है, सुन्दर भी लगते हैं, सुगन्धित भी हैं, सब मनुष्य चाहते हैं, तो क्या फल होता है? थोड़ा थोड़ा ही फूल पायें कि तोड लिए जाते हैं। जिनके पुण्य का उदय है उन्हें चैन नहीं मिलती और जिनके पाप का उदय है उन्हें चैन नहीं मिलती।

हितनिर्वाचन- यह सारा संसार क्लेश से भरा पूरा है। यहां किसी भी स्थिति का चुनाव मत करो कि मैं ऐसा बन जाऊं। हां आत्मश्रद्धान्, आत्मज्ञान और आत्मरमण की स्थिति में होने वाली जो शुद्ध ज्ञानदशा है उसका चुनाव करो। मुझे ऐसी ज्ञानस्थिति प्राप्त हो। यद्यपि है यह कठिन बात, किन्तु बार बार इस ज्ञानस्वरूप की भावना करने से वह सुगम हो जाता है। अच्छा प्रश्न ही करते जावो? अब क्या बनना है, अब क्या करना है, अब क्या होगा? विद्या सीखेंगे, कलायें सीखेंगे, लखपति हो जायेंगे। फिर क्या होगा? इज्जत बढ़ जायगी। फिर क्या होगा? अरे ! उस इज्जत को संभालने के लिए रात दिन अशान्त रहना पड़ेगा। वृद्ध हो जायेंगे, मरण हो जायगा। फिर क्या होगा? वह फिर अगले भव से सम्बन्धित बात है। कौनसी वस्तु यहां चाहने योग्य है? खूब निर्णय कर लो। कोई अणुमात्र भी मेरे हित के लिए साधक नहीं है। मेरा ही शुद्धज्ञान स्पष्ट सम्यग्ज्ञान ही आकुलता को और विडम्बना को काट सकने में समर्थ है।

मोही की करुणापात्रता- किसी पागल पुरुष को देखकर आपको कितनी दया आती है, हाय ! कितना संकट है, यह खुद अपनी सुध में नहीं है, उस पर बड़ी करुणा आती है ना, और जो स्वयं ऐसा पागल बनता है कि खुद की सुध नहीं है और परपदार्थों में अटपट छटनी कर डाली है, मोह बसा रक्खा है, ज्ञान का अवरोध कर दिया है ऐसी पगलाई पर भी तो कोई हंसने वाला तो होगा, करुणा करने वाला तो होगा? तत्त्वज्ञ पुरुष उस पर करुणा करता है।

बाहर में कहां शरण?- किसी बालक को कोई दूसरा कोई सताये, डराये। मानों दो वर्ष का बालक है तो मां की गोद में बैठकर निर्भय हो जायगा। कोई 6, 8 वर्ष का बालक है उसे कोई सतायेगा तो वह बाप की गोद में जाकर निर्भय हो जायगा। पर यह तो बतावो कि संसार के ये अशरण हम आप सब प्राणी जन्म, मरण, रोग, शोक, दु:ख, व्याधि, कल्पना, विकल्प, विडम्बनाओं से ग्रस्त हैं, अब किसकी शरण में जायें कि

निर्भय हो जायें? ढूंढ़ों शरण। न घर में शरण ठीक बैठती है, न परिवार की शरण ठीक बैठती। कहां चलें? बाजार में जायें तो किसकी दुकान पर बैठ जायें? अरे ! बिना स्वार्थ के मुझे अपनाले और मुझे शरण दे दे, ऐसा कोई न मिलेगा। सोचो तो सभी अपने मन में। अरे ! यहां कौन शरण देगा? यहां तो सभी अशरण, असहाय, दीन, वराक, जन्म, मरण के दु:ख भोग रहे हैं। यहां किसी की शरण में जाकर भीख मांगे? खुद ही खुद के लिए शरण हैं।

परमार्थभूत त्याग से शान्ति- भैया ! कितनी ही वेदनाएं हों, कितनी ही विपत्तियां बिछी हों, जहां आकिन्चन्य स्वभाव ज्ञायकस्वभाव मात्र सबसे विविक्त अपने उस परिपूर्ण अन्तस्तत्त्व को, प्रभु को निरखा कि सारे संकट शान्त हो जायेंगे। हां ऐसी स्थिति उसे ही मिल सकेगी जो किसी भी यश की, पर के संयोग की वान्छा न रखता हो। त्याग के बिना शान्ति नहीं हो सकती, और त्याग भी अन्तर में हो ज्ञानात्मक। चाहे छोड़ नहीं दिया है घर, किन्तु भीतर में तो देखो कि सब कुछ छोड़े हुए ही हैं। किसी भी परपदार्थ से यह जीव चिपका नहीं है, सब स्वतन्त्र है, जुदे हैं। बस ऐसी दृढ़ समझ में आ जाय कि सब स्वतन्त्र हैं, जुदे हैं, इस ही समझ में त्याग भरा हुआ है इस वास्तविक त्यागभाव के बिना ही यह मन विक्षिप्त हो रहा है, उन्मत्त हो रहा है, बेहोश हो रहा है। खुद अपराधी होकर भी किसी दूसरे को पुकारना, और भगवान् को भी पुकारना अथवा लोक में किसी की शरण गहना, यह सब निर्जन वन में रोने की तरह है। निर्जन वन में दु:खी पुरुष की चिल्लाहट को सुनने वाला कौन है? इसी प्रकार इस दु:खी संसारी प्राणी की वेदना की चिल्लाहट को सुनने वाला कौन है?

प्राणी का अनाथपना- एक बार एक राजा जंगल में गया तो वहां देखा कि एक साधु जी जिन पर कपड़े भी नहीं हैं, खाने पीने का साधन भी नहीं है, बस आसन मारकर आंखें मीचे हुए बैठे हैं। वह साधु कुछ छोटी उम्र का था, जो सतेज शान्त बैठा हुआ था। राजा बैठ गया। थोड़ी देर बाद जब साधु ने आंखें खोली तो राजा दया करके कहता है कि तुम कौन हो, क्यों इतना दु:ख भोग रहे हो? कोई भी नहीं है यहां। निर्जन स्थान में तुम पड़े हुए हो, आप कौन हैं? तो मुनि धीरे से कहता है राजन् मैं अनाथ हूं। ओह ! मत घबड़ावो। मैं तुम्हारा नाथ हो गया हूं आज से। चलो घर मौज से रहो। साधु ने पूछा, तुम कौन हो? शंका मत करो। मैं एक बड़ा राजा हूं, इतना परिवार है, इतना देश है, इतनी सम्पदा है। तुम्हें तकलीफ न होगी। तुम अब अनाथ बनकर न रहोगे, तुम मुझे बहुत सलौने लग रहे हो। वह मुनि कहता है इसमें क्या है, मैं भी तो ऐसा ही था। अब राजा की दृष्टि फिरी और पूछा तो महाराज आप कौन हैं? मुनि बोला कि ''अमुक नगर के राजा का पुत्र हूं।'' अरे ! वह तो मुझसे भी बड़ा राजा है। इतने बड़े राजा के आप पुत्र हैं, फिर आप अपने को अनाथ क्यों कह रहे हैं? मुनि कहता है, सुनो ''राजन् मेरे सिर में बड़े वेग से दर्द हुआ, उस दर्द में बहुतों ने सेवाएं कीं, डाक्टर बुलाए, औषधियां लाये पर उस समय मेरे सिर के दर्द को एक अंश भी बांटने के लिए कोई समर्थ न था। तब से मुझे यह श्रद्धा हुई है कि मैं तो अनाथ हूं।''

शरणभूत अविक्षिप्त ज्ञातृत्वभाव के आदर की प्रेरणा- सो चलो भैया ! अब सबके सब, अपने ही शरीर में बसे हुए अपने को खोज लो कि हम सब अनाथ है कि नहीं। आपका कोई दूसरा नाथ भी है क्या?

आपकी स्त्रीयां आपकी नाथ होगी क्या? अरे ! जिस क्षण आयु पूर्ण होती है सबके बीमारी से तुरन्त चले जाते हैं। जब किसी तीव्र पाप का उदय होता है तो भी ज्यादा प्रीति करने वाले परिजन भी उसका साथ छोड़ देते हैं। ध्यानांतर बीमारी के क्यों थोड़ी देर के समागम को मस्त होते जा रहे हो? यह शरीर को दूर करें, अपने ज्ञान को विक्षिप्त बनाएं। स्थिरता, अतिशय शायद कोई पुरुष उत्तम अभिप्राय इन सबको धारण करें, इस ही उपाय से एक फिट दूर सभी निकट होगी, अन्यथा इस जीव का दूसरा कोई शरण से रहे हैं।

श्लोक 37

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मन:।

तदेव ज्ञानसंस्कारै: स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते।।37।।

मन के विक्षेप और अविक्षेप का साधन- पूर्व श्लोक में यह बताया गया था कि विक्षिप्त मन आत्मा की भ्रांति है, समस्त क्लेशों का मूल कारण है और अविक्षिप्त मन आत्मा का तत्त्व है। इस कथन के बाद यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि वह कौनसा उपाय है जिसके कारण मन विक्षेप को प्राप्त होता है और वे कौनसे कारण हैं जिनके कारण मन अविक्षिप्त रहता है। इस ही जिज्ञासा का समाधान इस श्लोक में दिया जा रहा है कि अविद्या के अभ्यास के संस्कारों के द्वारा यह मन विक्षिप्त हो जाता है और वह ही मन ज्ञान के संस्कार के द्वारा आत्मतत्त्व में अवस्थित हो जाता है।

जीव का भाव पर ही अधिकार- भैया ! यह जीव केवल भावना ही तो कर सकता है। यह अमूर्त आत्मा किसी पुद्गल को छू भी नहीं सकता, अन्य कुछ कार्य कर ही नहीं सकता, केवल भावना बनाता है। चाहे वह धन ही कमाने का प्रसंग हो, चाहे लड़ने का प्रसंग हो, चाहे धर्म का प्रसंग हो, चाहे कोईसा भी प्रसंग हो, सर्वत्र यह जीव केवल अपने भाव ही कर पाता है। यह भावों के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। जब यह भावना होगी और उस भावना के बार बार होने से जो संस्कार बनेगा उसके अनुसार ही प्रवृत्ति होती है।

पुन: पुन: चिन्तन से भावना का निर्माण- एक कोई मनुष्य कहीं से बकरी लिए जा रहा था। चार ठगों ने देख लिया कि यह बडी सुन्दर बकरी है। इसको तो उड़ा लेना चाहिए। तब क्या उपाय है? उपाय की भी सलाह कर ली और उस सलाह के अनुसार वे चारों ठग एक एक दो दो मील की दूरी के अन्तर पर खड़े हो गए बड़ी जल्दी-जल्दी आगे जाकर। पहिला आदमी मिला तो वह कहता है—अरे भाई तुम बड़ा अच्छा कुत्ता लिए हो, यह कुत्ता बहुत ही बढ़िया है, सुनकर रह गया। आगे फिर एक मील बाद दूसरा आदमी बोलता है। यह कुत्ता तुम कहां से लाये? अब उसके मन में आया कि यह कुत्ता ही तो नहीं है। एक मील बाद फिर एक आदमी मिला, बोला—यह कुत्ता कहां लिए-लिए फिर रहे हो? अब उसके मन में आया कि यह कुत्ता ही होना चाहिए। अरे इतने आदमी मिलते हैं सभी झूठ तो नहीं बोलते हैं। अब चौथा आदमी मिला और कहा कि अरे यह कुत्ता कहां लटकाये जा रहे हो? तो उसने उसे कुत्ता जानकर वही छोड़ दिया। सोचा कि बड़ा धोखेबाज

यह जानवर है। छोड़ कर चल दिया। वे तो चाहते ही थे। वे चारों ही उस बकरी को ले आये और अपने घर में बाँध लिया। अब बतलावो इतनी बड़ी बात की बकरी कुत्ता मालूम पड़े, ऐसी भी बात हो गयी। तो अपने में जैसी भावना बार-बार की जाती है वैसी ही प्रवृत्ति बन जाती है और कोई अज्ञानरूप भावना करे तो अज्ञानरूप प्रवृत्ति बन जाती है।

भावना के अनुसार प्रवर्तन- दो आदमियों का मुकदमा था, आपस का। एक गरीब था और एक सेठ था। तारीख पड़ी। तो उस गरीब आदमी ने सोचा कि अपने पास खर्चा नहीं है और न जायेंगे तो केश हमारे विपरीत जायेगा। सो उसने क्या होशयारी की कि झट तांगा स्टैण्ड पर साइकिल से पहुंचा, और चार-छ: आने तांगा वाले को देकर कहा कि देखो अमुक सेठ जी है ना, वे जितने भी पैसे दें उतने में स्टेशन तक उन्हें ले आना, और रास्ते में यह बात कहना कि सेठ जी तुम्हारा चेहरा तो कुछ गिर गया है, बुखार आता है क्या? यह पूछना, यही बात कुलियों से कह दिया और कुछ पैसे दे दिये। स्टेशन मास्टर को दो चार रुपये टिकाकर उससे भी कह दिया कि अमुक सेठ जी टिकट खरीदने आयेंगे तो उनसे कहना कि कहां जा रहे हो? तुम तो बीमार मालूम होते हो, तुम्हारा चेहरा बहुत गिर गया है। लो, उसका काम बन गया। अब सेठ साहब तांगा स्टैण्ड में पहुंचे तो तांगा वाला सेठ जी को बैठाकर स्टेशन को चल दिया। फिर रास्ते में तांगे वाले ने कहा कि सेठजी आज आपकी आंखें कुछ चढ़ी सी हैं, क्या बीमार रहते हो? यही बात स्टेशन पर कुलियों ने पूछी। फिर स्टेशन मास्टर ने भी वही बात कही। लो सेठ जी के तो बुखार आ गया। क्योंकि बार-बार अपने मन में वैसे भाव बनाये। शक हो गया। वे बीमार हो जाने से घर लौट आये। यहां तो वह आदमी ऐसा चाहता ही था। तो तैसी भावना का संस्कार हो जाता है उसके अनुरूप चेष्टाएं होती हैं।

अशुचि शरीर की शुचित्व की भावना से अविद्यासंस्कार- वे अविद्या के अभ्यास क्या हैं जिनकी बार-बार भावना करके संस्कारबल से यह मन विक्षिप्त हुआ दौड़ता है, क्या है? बहुत सी बातें हैं। अपन लोगों का यह शरीर महा अपवित्र है। यदि इसमें सार होता तो लोग इसे जला क्यों देते? इस शरीर में सर्वत्र अपवित्र पदार्थ ही हैं, पर वाह रे व्यामोही जीव, यह इस शरीर को ऐसा पवित्र जानता है कि सोने से भी ज्यादा पवित्र शुचि है। क्या कहना है? ओ दूसरा तो कमजोर और बीमारी के मारे पीला हो रहा है और यह मोही जीव आसक्त हो रहा है। यह शरीर महा अपवित्र है। इसका नमूना आजकल देख ही लो। शायद कोई पुरुष किसी से टस कर आज नहीं बैठा है। कम से कम एक-एक फिट दूर सभी लोग बैठे होंगे क्योंकि पसीने के मारे चिप्पा-चिप्पा से रहे हैं। अपना ही शरीर छुवा नहीं जाता है। ऐसे गंदे शरीर के भीतर अनेक मल भरे हुए हैं और आयुर्वेद का कहना है कि यदि पेट में 3-4 सेर मल हमेशा न रहे तो यह मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता। आप शौच हो आये, शुद्ध हो आये तो आप जानते हैं कि पेट बिल्कुल साफ हो गया, किन्तु पेट में अब भी तीन चार सेर मल भरा हुआ है। कहां है शुचिपना, किन्तु इस शरीर के शुचिपने की भावना बनाये रहना, यह मैं हूं, बड़ा सुन्दर हूं, बड़ा पवित्र हूं, ऐसी बारबार भावना करता है, यही है अविद्या का संस्कार।

अनित्य शरीर में नित्यता की भावना से अविद्यासंस्कार- और भी देखो शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता है। इससे अनेक परमाणु निकलते हैं, अनेक आते हैं, यह नित्य नहीं है। यदि यह जीव शरीर नित्य होता तो

आज इस दुनिया में जीव समाते कहां? मनुष्य कोई मरते नहीं तो समाते कहां? पृथ्वी पर रहने को भी स्थान न मिलता। मरने पर भी तो देश में यह मांग है कि संख्या ज्यादा हो रही है, इसे रोको अन्यथा विप्लव हो जायेगा, लूटमार हो जायेगी। यह शरीर अनित्य है, किन्तु अपने आपमें सबको यह मालूम होता है कि मैं सदा रहूंगा। कल का तो भरोसा नहीं कि कल भी आयु रहेगी या नहीं। अंदाज की बात दूसरी है, पर बलपूर्वक कौन कह सकेगा कि हम कल भी टिकेंगे। यदि कह सकते हैं तो यह बलपूर्वक रोज कहेंगे, फिर इसका मरण ही नहीं है। इसीलिए आचार्यों का यह उपदेश है कि जब तक रोग से नहीं घिरे, जब तक शरीर में बल है तब तक हित के कार्य कर लो। निर्द्वन्द्व निराकुल होकर आत्मज्ञान प्रकाश में अनुभव का रसपान कर लो। नियम से यह संसारचक्र कट जायेगा। बार-बार यह मनुष्यभव मिलने को नहीं है। संसार में कितने प्रकार के जीव हैं, कहां-कहां इस जीव का जन्म न हुआ हो? आज दुर्लभ नरभव पाया है और इसका सदुपयोग न किया तो क्या विश्वास कि कब हित कर सकेंगे? इस अनित्य शरीर को यह नित्य है, यह नित्य है—ऐसी भावना बनाए रहना इस ही का नाम अविद्या का संस्कार है।

भिन्न देहादिक पदार्थ में आत्मीयता की भावना से अविद्यासंस्कार- यह शरीर आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, किन्तु मैं यह ही हूं, शरीर से अतिरिक्त अन्य कुछ सद्भूत पदार्थ हूं ऐसी उसकी भावना ही नहीं बनती। यह अविद्या का ही तो संस्कार है। यह मेरा है, यह मेरा पोता है, यह मेरा बच्चा है, इनके लिए ही मेरी जान है, औरों के लिए तो थोड़ी भी कृपा की गुन्जाइश नहीं है। यह क्या है? यह अविद्या का संस्कार है। यह ही तो कठिन वेदना है, अत्यन्त मलिनता है। इस अविद्या संस्कारों के द्वारा अवश होकर यह विक्षिप्त होता हुआ यत्र तत्र दौड़ लगाता है, कहीं मन ही नहीं लगता। जितने एक्ष होते हैं, जितने लोभ होते हैं वे सब अविद्या के संस्कार से ही तो होते हैं। मायामय पदार्थ ही परमार्थ जंचना और इन वैभव सम्पदावों से इतना गहरा लगाव रखना कि इससे ही मेरा जीवन है, सत्त्व है और उसकी ही अत्यन्त तृष्णा बनाना। तृष्णा के रंग में, लोभ के रंग में गहरे रंगे रहना यह सब क्या है? यह अविद्या का ही तो संस्कार है।

अविद्यासंस्कार से विपत्तियां- भैया ! अविद्या के संस्कार से लाभ लूटोगे? यह मन विक्षिप्त रहेगा, डांवाडोल रहेगा, अस्थिर रहेगा, फिर अपने आपमें बसे हुए परम शरण कारणपरमात्मतत्त्व का दर्शन कैसे कर सकेंगे? अविद्या के संस्कारों से यह मन अवश होकर विक्षिप्त हो जाता है। पागल का मन कहीं टिकता तो नहीं है, थोड़ी देर में कुछ बकता है, थोड़ी देर में कुछ बकता है। ऐसे ही अज्ञान की वासना जिसमें बसी हैं, सर्व परपदार्थों से भिन्न निज चित् स्वभाव का जिन्हें परिचय नहीं होता, वे पागलों की भांति कभी इसे बटोरा, कभी उसे अपना माना, कभी उस ही को दुश्मन सा मानने लगे। ओह ! जब छोटा बालक होता है तो एक बालक अपने छोटे भैया को कितना प्रेम करता है? कोई उसे डांट दे तो यह भैया बड़ा पक्ष लेता है। कदाचित् बड़ा होने पर अज्ञान के कारण किसी बात पर मनमुटाव हो गया तो फिर वही कहने लगता है कि मैं तो इसकी शक्ल भी नहीं देखना चाहता।

मायामयों की मायावशता- अरे भाई ! किसी को वश करने का जरासा तरीका है—प्रशंसा कर दे, मीठा बोल दे, वश हो जायगा। ये छोटे लड़के लोग अपने बाप से पैसा लूट कर तंग करके मांगते हैं। उन बच्चों के

बुद्धि नहीं है। कोई बुद्धिमान् बच्चा हो तो एक जरासा ही तो मन्त्र है। जरा बाप के आगे मीठा तुतला बोल दे, हाथ जोड़ दे और पैर छू ले, फिर तो चाहे बाप की मूंछ भी ले ले। किसी को वश करने का कौनसा बड़ा कठिन काम है? जरा कषाय दूर कर ले जिससे कि उपाय करते बन सके। और फिर किसे क्या वश करना है? जैसे चारों ओर से आने वाले मुसाफिर एक चौराहे पर थोड़ी देर को राम राम करने के लिए मिल गये। दो चार सेकेण्ड को ठहर भी गए तो आखिर बिछुड़ना तो पड़ता है, ऐसे ही चारों गतियों से कोई किसी गति से आया, कोई किसी गति से आया और इस घर के चौहट्टे में मिल गये तो थोड़ी देर की राम राम है, अन्त में बिछोह होगा ही। फिर किस किससे अनुराग करें, किससे द्वेष करें? यह अविद्या का संस्कार इस जीव को प्रेरे डाल रहा है।

मोहियों की मोहमयी कल्पित व्यवस्था- यह मन उछला-उछला फिर रहा है, कहीं एक ठिकाने लग नहीं पाता, बावले की भांति, क्योंकि अपनी आत्मा अपनी दृष्टि में नहीं है, सो जैसे बावले का दिमाग सही नहीं है, वह नाना चेष्टाएं करता है। इस ही प्रकार जिसकी आत्मा अपने वश में नहीं है, वह आत्मा नाना चेष्टाएं करती है। ओह ! यह मेरा है, यह पराया है। फल क्या होता है? जैसे कोई पागल सड़क से पास गांव के निकट बैठा हो, सड़क के मोटर वाले, तांगे वाले गुजर रहे हों, वे प्यासे हों और मोटर तांगा खड़ा करके कुवे पर पानी पीने लगें। अब वह पागल मानता है कि यह मेरी मोटर है, यह मेरा तांगा है। वे तो पानी पीकर मोटर तांगों में बैठकर चल देंगे, अब वह पागल माथा धुनेगा, हाय ! मेरी मोटर चली गयी। यों ही ये संसार के दीवाने पागल उन्मत्त मोही प्राणी जिस चाहे चीज को जो निकट आयी हो, घर में हो उसे अपनी मान लेते हैं चूंकि सब मोही मोही हैं ना, तो इस मोह में मोह की व्यवस्था बना डाली कि यह मेरा घर है, इसे दूसरा कोई नहीं छीन सकता, यह हमारी जायदाद है, कोई दूसरा नहीं ले सकता। जीव सब मोही हैं इसलिए स्वरूप विरुद्ध व्यवस्था बना डाली गयी, पर यह व्यवस्था कहां तक काम देगी। आखिर सब छोड़कर ही जाना होगा।

मोहमद की चेष्टाएं- ये संसारी, मोही, उन्मत्त जो कुछ मिला है उसे यह मान लेते हैं कि यह मेरा है। अब वे परपदार्थ अपनी परिणति के अनुसार जितने दिन निकट रहते हैं रहेंगे, बाद में बिछुड़ जायेंगे। सो बिछुड़ते हुए में क्लेश मानते हैं। स्नेह करने का फल बुरा है क्योंकि जिस किसी से भी स्नेह करें, आखिर वे बिछुड़ेंगे तो जरूर। सदा निकट रहेंगे ही नहीं। तो जब बिछुड़ेगे तब असह्य क्लेश भोगना पड़ेगा। कैसे अज्ञान अंधेरे में पड़े हुए ये जगत् के जीव दु:खी हो रहे हैं? जैसे जंगल में आग लग गयी हो और मनुष्य किसी पेड़ पर चढ़ जाय और चारों ओर देखा करे ओह ! वह आग लगी, देखो वह कैसा हिरण मरा, देखो यह खरगोश कैसा मर गया, चारों ओर विपत्तियां देख रहा हैं, पर खुद को यह खबर नहीं है कि यह आग इस रूख को भी भस्म कर देगी। मेरा कहाँ पता रहेगा? जगत् में सर्वत्र विपत्तियां दिख रही हैं, ओह ! यह कैसा हो रहा है, दूसरों की विपत्तियों को देखकर प्रसन्न हो रहे हैं, पर यह पता नहीं कि हम स्वयं विपत्तियों के बीच घिरे पड़े हैं, कैसा क्षिप्त मन है कि पागलपन सवार है? यही मन जब ज्ञानसंस्कार से संस्कृत हो जाता है तो आत्मतत्त्व में ठहर जाता है।

मोहमद के अभाव में स्वरूप की अवस्थितता- एक बार दतिया का राजा सैर करने चला। हाथी पर सवार हुए जा रहा था। तो एक गांव के निकट कोई कोढ़ी शराब के नशे में पड़ा था। वह कोढ़ी बोलता है ओबे रजुवा ! यह हाथी बेचेगा। राजा को उसकी बात सुनकर बड़ा गुस्सा आया, सोचा कि मेरी ही प्रजा का आदमी और ओबे रजुवा बोलता है और हाथी खरीदेगा। जब क्रोध आ गया तो मन्त्री कहता है, ''राजन् क्रोध मत करो, 5-6 घन्टे बाद इसे दरबार में बुलायेंगे और वहां इसका निर्णय करेंगे।'' उसका नाम पता पूछा जांच कर सब लिख लिया था। 5-6 घंटे के बाद उसे दरबार में बुलाया, उसका सारा नशा अब दूर हो चुका था। कोढ़ी सोचता है कि आज हम पर क्या आफत आयी है? अभी तक तो हमें राजदरबार में कभी नहीं बुलाया गया, सो वह डरते डरते राजदरबार में गया। राजा पूछता है— क्यों भाई ! मेरा हाथी खरीदोगे? उसे क्या पता था। वह कहता है महाराज आप कैसी बात कर रहे हैं। राजा ने कहा, नहीं नहीं मेरा हाथी खरीदोगे क्या? तो कोढ़ी कहता है— महाराज आप होश में बातें नहीं कह रहे हैं क्या? अरे ! हम गरीब आदमी आपका हाथी कैसे खरीद सकते हैं? तो मन्त्री कहता है, ''राजन् आपका हाथी यह नहीं खरीद रहा था, वह कोई दूसरा था। यह नहीं है। वह था नशा, जो आपका हाथी खरीद रहा था।'' सो जब यह मोह का नशा चढ़ जाता है तो पागल बना फिरता है और जब मोहमद उतर जाता है तब मन ज्ञानसंस्कार के कारण आत्मतत्त्व में उपस्थित हो जाता है।

ज्ञानसंस्कार- वह ज्ञानसंस्कार क्या है? इसे संक्षेप में यों जानों कि कोई पहिले अपने आपमें बार-बार भावना करे कि मैं ज्ञानमात्र हूं, मैं केवल ज्ञान का ही काम कर सकता हूं, ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ मैं कर नहीं सकता। यह आत्मा आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानमात्र है, यह तो किसी पुद्गल से छुवा भी नहीं जा सकता है। वर्तमान में यह शरीर से बंधा हुआ है, पर रस्सी की गांठ की तरह शरीर से नहीं बंधा हुआ है, क्योंकि मैं शरीर को छू भी नहीं सकता, किन्तु निमित्तनैमित्तिक भाव के कारण स्वयं ऐसा बंधा हुआ हूं, मैं तो ज्ञानमात्र हूं, ऐसी पुनः पुनः भावना से ज्ञानसंस्कार हो जाता है।

भावबन्धन की मुक्ति के लिये ज्ञानभावना की समर्थता- जैसे आपको अपने किसी पुत्र या स्त्री से अधिक प्रीति हो तो क्या आपका शरीर मेरा शरीर रस्सी की भांति बंध गया है? अरे ! आप अलग हैं, दूसरे आपसे अलग हैं, किन्तु आप ही खुद अपनी भावनाएं बनाकर खुद ही मूढ़ होकर, मोही होकर अपने आपके भावों के बन्धन से बन्धे हुए हैं कि एक दिन भी स्वतन्त्र होकर आप कहीं भी विचर नहीं कर सकते। यों ही जानिये कि इस शरीर के साथ आत्मा का एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धन तो है पर इस बन्धन की मजबूती निमित्तनैमित्तिक भावों के कारण है, कुछ परस्पर के मेलजोल के कारण नहीं हैं। तब यह सब बन्धन ज्ञानभावना से ही छूटेगा। इसके लिए अहर्निश सत्संग हो, स्वाध्याय हो और अपने आपमें मैं ज्ञानमात्र हूं, देह से भी न्यारा हूं, सर्व परपदार्थों से जुदा, यह मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ऐसा अनुभव प्रकाश आ जायगा, फिर इस ज्ञानानुभव के प्रकाश के कारण कोई संकट न रहेगा। सो अपने मन को ज्ञानसंस्कार के द्वारा शुद्ध बनावें, यथार्थ प्रतीतिरूप कार्य करें तो आत्मतत्त्व में हम ठहर जायेंगे और सदा के लिए संकटों से मुक्त हो जायेंगे।

अविद्यासंस्कार और चित्तविक्षेप- अपवित्र देह में पवित्रता का ध्यान रखना, अनित्य शरीर में नित्यता की प्रतीति रखना, भिन्न वैभवादिक में आत्मीयता का आशय रखना ये सब अविद्या के संस्कार हैं। इन संस्कारों के कारण विवश होकर इस मन को विक्षिप्त होना पड़ता है। जब खुद को खुद के घर में नहीं रहने दिया तो फिर पर घर में इसे कहां स्थायित्व मिल सकता है? घर से तो यह भागा भागा फिरा करेगा। तो अविद्या के परिणामों में इस जीव की ऐसी आकुल दशा हो रही है। वह ही मन जब ज्ञानसंस्कार से संस्कृत हो जाता है तो फिर यह मन स्वत: ही अपने आप अपने आपमें स्थित हो जाता है। अविद्या का संताप और आनन्द का प्रताप बताकर अब उसके फल में यह बता रहे हैं कि विक्षिप्त मन में क्या विपत्तियां आती हैं और अविक्षिप्त मन में विपत्तियों का कैसे विलय होता है?

श्लोक 38

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतस:।

नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतस:।।38।।

मनुष्यों के मानकषाय की प्रमुखता की प्रकृति- जिस जीव के चित्त का विक्षेप है अर्थात् आत्मस्वरूप को आत्मस्वरूप न मानकर अन्य पदार्थों में अपना ज्ञान और आनन्द ढूंढ़ते हैं अर्थात् पर को आत्मा और अनात्मा मानते हैं ऐसे ही सम्मान और अपमान के विकल्प होते हैं। गतियां चार होती हैं— नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। नरकगति के जीवों में क्रोध कषाय की मुख्यता है और वे अपना मन शान्त करने के लिए दूसरे नारकियों पर टूट पड़ते हैं। जैसे कि होली के अवसर पर अच्छे नये साफ धुले सफेद कपड़े पहिने हुए बाबूजी को देखकर हुड़दंगों की टोली टूट पड़ती है और हरा, लाल, नीला आदि रंगों को गुलालों को डालकर अपना मन खुश करते हैं इससे भी बड़ी बुरी दशा नारकों में है। आया कोई नारकी उसको देखते ही नारकी एकदम उस पर टूट पड़ते हैं। वहां क्रोध का भाव मुख्य रहता है। तिर्यंचगति में माया का भाव मुख्य रहता है, देवगति में लोभ का भाव मुख्य रहता है और मनुष्यगति में मान का भाव मुख्य रहता है।

वैभवलोभ की मानकषाय की पुष्टि की प्रयोजकता- भैया ! कुछ सुनने में ऐसा लगता होगा कि मनुष्यों में तो लोभ की मुख्यता मालूम होती है, किन्तु मनुष्य लोभ भी मान रखने के लिए करते हैं। वे जानते हैं कि धन अधिक जुड़ जायेगा तो मेरी इज्जत बढ़ जायेगी। लोग यह समझेंगे कि यह बहुत बड़ा आदमी है। लोभी को यह ध्यान नहीं रहता कि शायद लोग मुझसे घृणा भी करेंगे कि यह इतना धनी होकर भी मक्खीचूस बना हुआ है, इसका पता उस लोभी को नहीं होता किन्तु उसकी तो धुनि यह रहती है कि धन इकट्ठा हो जाय तो बहुत बढ़ जाने पर मेरा सम्मान बढ़ जायेगा। जो लोभ भी मनुष्य अपना मान रखने के लिए करते हैं। यहीं देख लो जरासी प्रतिकूल बात आने पर मन शान रखने के लिए कितना तड़फता है?

विक्षेप और अविक्षेप का परिणाम- जिसके चित्त में विक्षेप हो गया है अर्थात् जिसका मन फिंक गया है। क्षेप, विक्षेप, निक्षेप सबका अर्थ है फेंक देना, बाहर कर देना, दूर डाल देना। जिसने अपने मन को दूर डाल दिया, फेंक दिया, बाहर कर दिया, अपने आत्मा से विमुख कर दिया, उसको तो बाहर में सार नजर आयेगा; ऐसे धनी बनें, ऐसा महल बने, ऐसा आराम ठाठ हो, इस प्रकार के परिणाम होंगे। तब विक्षेप हो गया ना, बाह्यपदार्थों में ही यह मन चला गया। अब वह जरा-जरासी बात में मान और अपमान महसूस करने लगता है, किन्तु जिसके चित्त का क्षेप नहीं हुआ है, बाहर नहीं फिंका है, अपने ही घर में रह रहा है, अपने स्वरूप के उन्मुख है, अपने ज्ञानानन्दस्वभावी पर से न्यारा एकाकी आत्मतत्त्व की प्रतीति में है उसको अपमानादिक नहीं होते हैं।

ज्ञानी की गम्भीरता- ज्ञानी ही गम्भीर हो सकता है। सम्मान होने पर भी अपने आपका सम्मान न समझे और अपमान होने पर भी अपने आपका अपमान न समझे ऐसी गम्भीरता ज्ञानी सत् पुरुष में ही हो सकती है। कैसा वह अद्भुत ज्ञानप्रकाश है जिस प्रकाश में सब कुछ ज्ञात होता है, किन्तु किसी भी वस्तु में राग और द्वेष नहीं होता है, कितना महान् प्रकाश है वह? वह तो दुनिया से न्यारा एक महा सत्पुरुष है। कुछ कुछ तो दिखता भी है गृहस्थों में भी और साधुजनों में भी। कदाचित् 2 की कितनी भी बातें हो रही हों कि जिनको सुनकर अन्य लोग विह्वल हो सकें, किन्तु वे विह्वल नहीं होते। जिसने अपने आपके स्वरूप का भान कर लिया उसके लिए ये सब बातें सुगम रहती हैं।

मानभंग का लाभ- क्यों जी, कोई यदि मेरा मान भंग कर दे तो क्या किया उसने? मान का नाश कर दिया। बड़ा अच्छा हुआ। बड़े-बड़े सत्पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ के नाश करने के लिए बड़ा उद्यम करते हैं। कोई हो तो लाड़ला ललन ऐसा कि मेरे मान का नाश कर दे। हम उसका बड़ा उपकार मानेंगे। फिर मुझे तीन ही कषाय दूर करने को रह जायेंगी। मेरा मान तो एक दयालु पुरुष ने भंग कर दिया ना। हाय, पर होता कहां है ऐसा? अच्छा, मान भंग कर दिया कि मान और बढ़ जाता है दूसरा कोई प्रतिकूल प्रवर्तन करे तो? मान कषाय तो और प्रबल हो जाता है। कहां अपमान और सम्मान के विकल्प उठते हैं, वे तो सब अज्ञान अंधकार में मोह की कल्पना में होने वाली बातें हैं।

सबसे बड़ी समस्या- इस मान अपमान रूप विपत्ति का कारण चित्त के विक्षेप को जानकर हम प्रयत्न यह करें कि मेरा चित्त मेरी शरण से अलग न हो। यह बात तो जानने की है, न केवल कहने की, न केवल सुनने की। इस उपाय से जो जितने अंश में अपने स्वरूप की निकटता पा लेता है वह कृतार्थ हो जाता है। मान लो आज जीवन की बड़ी समस्याएँ हैं। आय की व्यवस्था नहीं, मह्ंगाई बहुत बढ़ रही है, और-और भी परेशानियां हैं। तो कितनी भी परेशानियां हों, इससे भी कुछ ज्यादा परेशानी हो तो भी सर्वत्र परिस्थितियों में आत्मस्वरूप का स्मरण, ज्ञान यहां स्थगन करने के योग्य नहीं है। ये समस्याएँ कुछ बड़ी समस्यायें नहीं हैं जितनी कि जीवन में बड़ी कठिन समस्याएँ सामने आयी हैं। हालांकि जब देश समाज पब्लिक के बीच में रहते हैं तो ये समस्यायें बहुत ऊंची मालूम होती हैं, लेकिन ये समस्याएं इतनी बड़ी नहीं हैं कि जितनी बड़ी समस्याएं अपने आपसे विमुख होकर बाह्य की ओर दृष्टि लगाकर, मोह रागद्वेष का परिणाम बनाकर अपने

परमात्मतत्त्व से दूर हुए जा रहे हैं, ये हैं जिनके फल में अनन्त संसार भ्रमण करना पड़ेगा। यह समस्या हैं सबसे बड़ी।

अहितपूर्ण बड़ी समस्या में अन्य सर्वसमस्यावों की विलीनता- देखो भैया ! विपत्ति की समस्याएँ उससे बड़ी विपत्ति की समस्याएँ सामने आ जायें तो दूर हो जाती है। कोई छोटी विपदा है, इससे बड़ी विपदा सामने नजर आये तो छोटी विपदा दूर हो जाती है। उसको मन में स्थान नहीं दिया जाता है। तो जिसको तुमने बड़ी विपदा समझ रक्खी हो, जिससे रात दिन परेशान रहा करते हों, उससे बड़ी विपदा और है, उस पर दृष्टि दें तो यह विपदा भी दूर हो जाएगी अर्थात् उसे आप फिर बड़ी विपदा न मानेंगे। यहां कौनसी बड़ी समस्या है? यह अमूर्त आत्मा इस अशुचि शरीर में पड़ा है, यह क्या कम समस्या है? आकाशवत् अमूर्त-निर्लेप अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र परमात्मतत्त्व देह के बन्धन में पड़ा है, कर्मों के बन्धन में ग्रस्त है, जन्ममरण के चक्करों में लगा है, यह क्या छोटी समस्या है? अचानक ही काल आ गया, गुजर गए तो महंगाई आदिक की समस्यायें फिर सब खत्म हैं। जहां जन्म लिया, वहां की समस्या इसके सामने आ जायेंगी।

अपना मुख्य काम- इस अध्यात्म क्षेत्र में देखो तो सही कि कौनसे संकट, कौनसी बड़ी समस्या हमारे सामने है, जिसको दूर करने का और सुलझाने का काम मुख्य पड़ा हुआ है? कितना काम पड़ा हुआ है? संसार के सारे काम एकत्रित किए जायें, उनसे भी अधिक मुख्य काम यह पड़ा है कि अपने आपको अज्ञान, रागद्वेष, मोह और विकल्पजालों के संकट से छुटा लेना। इस संकट की मुक्ति में अणुमात्र भी परपदार्थों की अपेक्षा नहीं है। इतना धन हो, तब ही हम धर्म पाल सकते हैं—ऐसी अपेक्षा इस धर्मपालन में नहीं है, किन्तु बाह्यवैभव में रंगे हों, तृष्णा बनी हो, कृपणता हो, कुछ खर्च करने का परिणाम न हो, संचय का भाव लगा हो तो ऐसी स्थिति में धर्मपालन नहीं होता। उसकी योग्यता चाहिये, इतना साहस चाहिए कि यह मान सकें कि मेरा मेरे आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। यह सब तो धूल है। कैसे मस्त हुए जा रहे हैं—यह निर्णय नहीं आ सकता तो धर्मपालन का अधिकार न मिलेगा।

अनाकांक्षता और उदारता की आवश्यकता- यद्यपि धर्मपालन में एक पैसे की भी अपेक्षा नहीं है। धर्म पैसे से नहीं होता, पर पैसे के लगाव से अधर्म तो होता है ना। तो उस अधर्म को दूर करने का हमारा बहुत बड़ा काम है, वह है उदारवृत्ति, जिससे हम धर्म पालने के पात्र हो सकें। चित्त के विक्षेप को दूर करने का काम पड़ा है। फिर तो ज्ञानसंस्कार हुआ कि स्वत: ही आत्मतत्त्व में आत्मा का अवस्थान हो जाएगा। सारे क्लेश एक ममता के हैं, मायामयी दुनिया में मायामयी पोजीशन के रखने का क्लेश है। दूसरा कुछ क्लेश है ही नहीं। न होता आज इतना वैभव, साधारण होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था? यहां जितना लोक में बड़प्पन बढ़ जाता है, उतना ही पोजीशन रखने की तृष्णा बढ़ जाती है। हुआ कहां धर्म? जैसे किसी महान् कार्य में धन का दान करके, तपस्या करके अथवा तन से पर की सेवा करके और कुछ यश का भाव रक्खा तो वहां संन्यास कहां हुआ? प्रभु का प्यारा वही हो सकता है जो कि अपने सम्बन्ध में इस मायामय जगत् में कुछ न चाहे और निश्छल शुद्धभावों से पर की प्रभुता पर मोहित हो जाये अर्थात् अनुरक्त हो जाये और

अपने को कुछ न मानें और अपने को स्वतंत्र और सर्वस्व मानें। इस जगत् में कुछ चाहने वाले के हाथ कुछ भी तो नहीं लगता है।

कुछ की कांक्षा में कलंक- एक नाई ने सेठ जी की हजामत बनाई। सेठ बड़ा डरपोक था। जैसे ही हजामत करते हुए में छूरा ठोड़ी के पास पहुंचा कि सेठ डरा और नाई से कहा कि देखो बढ़िया बाल बनाना, हम तुम्हें कुछ देंगे। जब हजामत बन चुकी तो सेठजी एक चवन्नी देने लगे। नाई ने कहा कि हम तो कुछ लेंगे, आपने कुछ देने का वादा किया था। सेठजी रुपया देने लगे, मोहर देने लगे। नाई ने न लिया। बोला हम तो कुछ लेंगे। क्या आफत पड़ गयी—ऐसी चिन्ता करके सेठ थक गया। अब सेठ को कुछ प्यास लगी। सेठ ने नाई से आले में रखे हुए दूध का गिलास मंगाया ताकि प्यास बुझा लें, फिर कुछ दें। उसने जैसे ही गिलास उठाया, वैसे ही देखा कि इसमें कुछ पड़ा है। नाई बोल उठा कि सेठजी इसमें कुछ पड़ा है। सेठजी ने कहा कि क्या कुछ पड़ा है? बोला हां। अरे तो अपना कुछ तू उठा ले। तू कुछ की ही टेक में तो अड़ा था। उसने कुछ उठाया तो उसे क्या मिला? कोयला मिला। तो कुछ की अड़ करने में कोयला ही तो उस नाई के हाथ लगा। इसी प्रकार यह सच जानों कि इस आत्मतत्त्व के अतिरिक्त बाह्यपदार्थों में कुछ चाहा तो केवल पाप कलंक ही तो हाथ रहता है।

भावना में कृपणता क्यों?- भैया सब कुछ यहीं पड़ा रहता है, कुछ भी साथ न जाएगा। यह जीव केवल परिणाम ही तो करता है। इस परिणाम से ही इसे आत्मसंतोष मिल सकता है और परिणाम से ही इसे खेद प्राप्त होता है। कोई भी परपदार्थ इसमें हर्ष विषाद नहीं लाता, किन्तु यह अपनी कल्पना से ही हर्ष विषाद उत्पन्न करता है। जैसे किसी पुरुष के आगे एक खल का व एक चिंतामणि (रत्न) का टुकड़ा रख दिया और उससे कहा कि तू इनमें से जो मांगना हो मांग, जो मांगेगा वही मिल जाएगा। और यदि वह मांगे खल का टुकड़ा तो उससे बढ़कर बेवकूफी और क्या होगी? यह बात तो जल्दी समझ में आ जाती है और ऐसी ही बात तो यहां है कि जीव को केवल भावों से ही आनन्द उपभोग होता है और भावों से ही दु:ख उपयोग होता है तथा भावों से ही सुख उपभोग होता है। तो हे आत्मन् केवल भावना के ही प्रसाद से तुझे आनन्द क्लेश भी मिल सकते हैं और अनन्त आनन्द भी मिल सकता है। अब बोल तुझे इनमें से क्या चाहिए और यह चाल चले क्लेश की ही तो इससे और अधिक व्यामोह क्या कहला सकता है?

परमशरण की निकटता- जब कोई बड़ा क्लेश होता है तो जैसे किसी मित्र को या रिश्तेदार को या कुटुम्ब के पुरुष को अपने आपका जिसे शरण मानता है उसके निकट पहुंचता है, उसको छूकर रहता है, उसकी गोद में सिर रख देता है तो संसार की महान् विपत्तियों में व्यापन्न इस जीव को बड़े क्लेश हैं। यह जहां जाता है वहीं क्लेश हैं। जिसे हर्ष का साधन कुटुम्ब समझा है उसके बीच रहता है, वहां के और ढंग के क्लेश हैं, सोसाइटी सभा में बैठते हैं तो यहां और ढंग के क्लेश हैं और जन्म-मरण के क्लेश का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। ऐसे इन अनन्त क्लेशों से ग्रस्त इस प्राणी को शांति सत्पथ आनन्दमार्ग दिखाने का कारण है तो वह है प्रभु का दर्शन और आत्मस्वरूप का दर्शन। तब ऐसा ही यहां क्यों न किया जाय कि हम अपने प्रभु के बहुत निकट पहुंचे। वह प्रभु अनन्त ज्ञानी है, सर्वविभावों से दूर है, ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है और

इस ही प्रसंग में क्यों न अपने आत्मस्वरूप के निकट हम पहुंचे और बारबार इस ज्ञानस्वरूप का अनुभव किया करें?

अन्तिम चिकित्सा का आदर- भैया ! शांति के लिए बहुत प्रकार के परिश्रम कर डाले। जरा एक परमविश्रामरूप आत्मव्यवस्था भी तो करके देख लें। जब कोई मरीज 10-12 डाक्टर से इलाज करा चुका है और तमाम पैसा बरबाद कर चुका है, फायदा भी कुछ नहीं हुआ। झक मारकर अपने ही छोटे से गांव में लौटकर आ गया और वहां कोई देहाती साधु अथवा कोई फक्कड़ फकीर यह कहे कि यह रोग तो मिटा देना मेरी चुटकी का खेल है, तो वह सोचता है कि आखिरी दाव क्यों न देख लिया जाय? देख लेता है और कहो उससे ही दु:ख दूर हो जाता है। बहुत दूर घूम आये पर बहुत सस्ता सुलभ घर का ही कोई, गांव का ही उस दु:ख को दूर कर देता है।

चरम शरण का आदर- यों ही यह आकुलता का मरीज जब पदार्थों के पास धूम आया मुझे शांति मिलेगी, अशांति मिटेगी, पंचेन्द्रिय के विषयों से बहुत प्रार्थना भी की, बढ़े भी विषयों की ओर, चित्त भी विषय साधनों में बसाये रहा, यही तो उनकी पूजा है। बहुत-बहुत उनकी शरण गही, पर कहीं शांति न मिली। तो झक मारकर थोड़ा कुछ अपने घर में बैठता है—अन्तर्ध्वनि होती है कि जरा एक दाव इसका भी तो देख लें, अपने आपके प्रभुस्वरूप से कुछ ज्ञान की नजर तो मिला लें, ज्ञानयोग स्वरूप स्मरण को कर लें, सब ओर से उपयोग को हटा दें, एक अनन्य शरण होकर, किसी परवस्तु का रंचमात्र भी आदर न रखकर स्वरूप में घुल मिलकर थोड़ा प्राकृतिक, सुगम, स्वाधीन आनन्द तो प्राप्त कर लें। बहुत से काम तो कर डाले शांति के अर्थ, अब अंतिम दाव तो करके देख लें। समस्त विकल्पों को छोड़े, अपने आपके स्वरूप का स्पर्श करें, फिर शांति के योग से मुक्त हो जायें। तो घूम आया यह सब जगह, अंत में शरण मिली इसे अपने आपके ही अन्दर। तो ऐसा ही काम क्यों न कर लिया जाय जिससे कि चित्त का विक्षेप मिट जाये।

स्वरूप यथार्थ ज्ञान में विक्षेप का अभाव- मान और अपमान क्या है? जो कोई पर-आत्मा जो कुछ चेष्टा करता है वह अपनी कषाय के अनुकूल चेष्टा करता है। हमारा कुछ नहीं करता है। धीरता हो, गम्भीरता हो, ज्ञानप्रकाश हो तो मौज लेते हुए जरा निरखते जावो अपने आपको। इस जगत् की चेष्टा से अपने आपको विक्षिप्त मत करो, चित्त के अविक्षेप में अपमान आदिक हो जाते हैं इसलिए हर सम्भव प्रयत्नों से चित्त का विक्षेप मिटावो और अपने आपके स्वरूप की उपासना में रहो तो सारे संकट स्वयमेव ही दूर हो जायेंगे।

श्लोक 39

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विन:।

तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यत: क्षणात् ।।39।।

रागद्वेष के शमन का यत्न- सर्व क्लेशों का मूल रागद्वेष परिणाम है। चित्त विक्षिप्त हो जाता है तो उसका भी कारण रागद्वेष परिणाम है। जन्म मरण के भार सहे जा रहे हैं, उसका भी कारण रागद्वेष परिणाम है। जिन्हें कल्याण की चाह हो, सुख की वान्छा हो, हित की वान्छा हो उनका यह एकमात्र कर्तव्य है कि रागद्वेष भाव दूर करें। ये रागद्वेष भाव कैसे दूर हो सकते हैं? इसके समाधान में यह श्लोक कहा जा रहा है। तपस्वी पुरुषों के जब कभी मोहवश राग और द्वेष उत्पन्न होता हो तो उनको अपने आपमें स्थित कारणपरमात्मतत्त्व की भावना करनी चाहिए। इस उपाय से क्षणमात्र में ये राग और द्वेषभाव शांत हो जाते हैं।

रागद्वेष में आकुलता- भैया ! जगत् में एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई परमाणुमात्र भी ऐसा पदार्थ, तत्त्व नहीं है जो इस मुझ जीव को वास्तविक आनन्द का कारण होवे। मोह के मद में लौकिक सुख और आराम हर्ष भोगा जा रहा हो तो वहां भी आकुलता है और विपदा भोगी जा रही हो तो वहां भी आकुलता है। रागद्वेष यदि है तो उसके परिणाम में नियम से आकुलता ही है। कोई भी राग अनाकुलता या सत्य आनन्द को उत्पन्न करने वाला नहीं होता है और द्वेष तो आनन्द को उत्पन्न करने वाला है ही नहीं। जीव रागवश होकर आनन्द की प्राप्ति करने के लिए राग करने का ही उपाय किया करते हैं, और द्वेषी पुरुष द्वेष से उत्पन्न हुई आकुलता को दूर करने के लिए द्वेष का ही उपाय किया करते हैं।

द्वेष की बेचैनी की एक घटना- कुछ वर्षों पहिले कहीं एक कोई एक घटना हो गयी कि पड़ोस के किसी स्त्री के लड़के से दूसरे पड़ोस के लड़के से झगड़ा हो गया और झगड़े में एक लड़के की मां ने दूसरे लड़के को पीट दिया, तो जिस लड़के को पीटा उसकी मां को इतना क्रोध आया कि खाना भी न सुहाये। उसका संकल्प हो गया कि मुझे तब चैन होगी जब उस लड़के को जान से खत्म कर दूंगी। उस बेचैनी में उसने तीन दिन तक भोजन भी नहीं किया। उससे खाया ही न जाये, इतना तीव्र क्रोध चढ़ आया कि वह अपनी धुन रक्खे थी। आखिर चौथे दिन उसे मौका मिला, कोई मिठाई का लोभ देकर उस लड़के को बुलाया और एकांत पाकर उसके प्राण ले लिए और वहीं अपने घर में ही कहीं गड्ढा खोदकर गाड़ दिया। वह लड़का एक बड़े आदमी का था। बड़ा ढुढ़उवा मचा। आखिर खुफिया पुलिस ने किसी प्रकार पता लगा लिया और उस हत्यारिन को गिरफ्तार किया। जब जज ने पूछा कि तूने इस लड़के को क्यों मार डाला? तो उसने जवाब दिया कि इसने बेकसूर मेरे लड़के को थप्पड़ मारा था और इसने ही अपनी मां से हमारे लड़के को पिटवाया था। ऐसी दशा देखकर मेरे मन में यह संकल्प हो गया कि इस लड़के को जान से खतम करना ही है और इस धुन में मैंने तीन दिन तक खाना नहीं खाया, भोजन के लिए हाथ ही न उठे, वही धुन बनी रहे जब लड़के को मार डाला तब चैन पड़ी। फिर उसे दण्ड मिला। क्या हुआ आगे पता नहीं, पर यहां देखो कि जब द्वेष की क्रूर वेदना उत्पन्न हो जाती है तो उस वेदना को शांत करने के लिए उसने द्वेष को ही बढ़ाया और द्वेष करके अपनी वेदना को शांत किया।

रागद्वेष के कर्षण में मन्थन- राग और द्वेष इन दो रस्सियों के बीच मथानी की तरह यह जीव फिर रहा है। जैसे दही बिलाने की मथानी जो रस्सी में लिपटायी जाती है उस रस्सी के उन दोनों छोरों के आवागमन की रगड़ से मथनी का क्या हाल हो रहा है, इसी तरह यह जीव राग और द्वेष की दो डोरियों में फंसा हुआ, मायाचार में पड़ा हुआ इस जगत् में चक्र काट रहा है। कहीं भी तो चैन नहीं है। गरीब सोचते हैं कि धनी बड़े सुखी होंगे, पर धनियों का हाल धनी जानते हैं। धनी सोचते होंगे कि गरीब बड़े सुखी होंगे, उन्हें कोई चिंता नहीं, पर गरीबों की हालत गरीब ही जानते हैं। कुछ मिल जाय, कैसा ही समागम मिले, यदि ज्ञान नहीं है, विवेक नहीं है तो सुख और शांति हो ही नहीं सकती। सुख और शांति धन की देन नहीं है किन्तु विवेक की देन है, ज्ञान की देन है।

रागद्वेष के शमन के उपाय की आवश्यकता- देखो रागद्वेष तपस्वीजनों को भी सता रहे हैं, साधुवों को, गुरुवों को भी सता रहे हैं। यदि रागद्वेष उन्हें न सताते होते तो ध्यान तपस्या, साधना की उन्हें क्या जरूरत थी? वे ध्यान, साधना इसिलए करते हैं कि जो रागद्वेष उन्हें सता रहे हैं, उन रागद्वेषों का विनाश करने के लिए उनका यह उद्यम है। यह ग्रन्थ तपस्वीजनों को सम्बोधने की मुख्यता से रचा गया है। जो बड़े पुरुषों के लिए कोई प्रोग्राम बनता है उस प्रोग्राम से गरीब लोग भी लाभ उठा लेते हैं। तो साधु संतों के लिए बनाए गए इस ग्रन्थ से गृहस्थजन भी लाभ उठा लिया करते हैं। यह तपस्वियों को सम्बोध करके बताया गया है कि जब किसी तपस्वी को मोह से राग और द्वेष उत्पन्न होता हो तो वह अपने आपमें स्थित शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करे। इस उपाय से रागद्वेष क्षणमात्र में शांत हो जायेंगे।

क्लेशमुक्ति का उपाय आकिन्चन्यवृत्ति- देखो भैया ! किसी बालक के हाथ में कोई खाने की बड़ी चीज हो तो अन्य बालक उसे छुड़ाने की कोशिश करते हैं। वह मुट्ठी में बांधे है तो उसे खींच-खींचकर छुड़ा लेने की कोशिश करते हैं। वह बालक दु:खी हो रहा है। इसी प्रसंग में उसके मन में जब यह आता है कि इस चीज को फेंक दें तो वह मुट्ठी खोलकर बाहर फेंक देता है; और चाहे बाहर फेंककर अपने ही पैरों से उसे मसल देता है; लो अब तो सारा झगड़ा खत्म। अब अन्य बालक किस बात पर उसे पीटें? यों ही बाह्यवस्तुवों पर हमारी दृष्टि रहती है, उन्हें अपनाते हैं तो सैकड़ों विपत्तियां आती हैं। धन वैभव का हम संचय रखते हैं तो लूटने वाले, घात लगाने वाले कुटुम्बीजन, मित्रजन अथवा अन्य कोई व्यक्ति उसके हड़प कर जाने की कोशिश करते हैं और हम दु:खी होते रहते हैं। सभी प्रसंगों में जहां अपने आपके ज्ञानमात्रस्वरूप का चिंतन किया कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, यहां कुछ और लदा ही नहीं है, यह तो मैं निजस्वरूपमात्र हूं, यहां कहां विपत्तियां हैं, यह मैं तो ज्ञानानन्दमात्र हूं—ऐसे इस मेरे स्वभाव के दर्शन में कुछ प्रवेश तो हो कि सारे संकट क्षण भर में ही तो समाप्त हो जायेंगे।

संकट समाप्ति के लिये आन्तरिक सुगम उद्यम- भैया ! संकट थे ही कहां। कल्पना से ही संकट बना लिये थे और कल्पना से ही शान्त हो गये। ज्ञानबल से तो अब संकट रहा ही कहां। हे तपस्वीजनों ! जब कभी मोह से राग और द्वेष उत्पन्न हो जायें अर्थात् बाह्यतत्त्वों की ओर दृष्टि देने के कारण और अपने आपकी

स्मृति न रखने के कारण जब कोई रागद्वेष उत्पन्न हो तो जरासा ही तो काम है। अपने आपके भीतर बसे हुए इस आत्मतत्त्व को निरख लें तो सारे संकट समाप्त हो जायेंगे।

संकट समाप्ति के सुगम उपाय पर एक दृष्टान्त- यमुना नदी के बीच चलने वाले कछुवों में से एक कछुवा थोड़ी देर को अपनी चोंच उठाकर चले तो इतने में पचासों पक्षी उसकी चोंच को पकड़ने का यत्न करते हैं। वह कदाचित् विह्वल हो जाये तो साथ ही का कोई कछुवा मानों समझा देगा कि अरे मित्र ! तुम क्यों इतनी परेशानी सह रहे हो? जरासा ही तो काम है कि चार अंगुल पानी में भीतर आ जावो, फिर वे सारे पक्षी तुम्हारा क्या कर सकेंगे? इतना सा इलाज नहीं कर पाते और इतने संकट भोग रहे हो। समझ में आये और थोड़ा ही तो पानी में डुबकी लगा लें, अब वे सारे पक्षी क्या करेंगे?

संकटसमाप्ति का सुगम उपाय- ऐसे ही इस ज्ञान और आनन्द के समुद्र में आनन्द में सदा रहने वाले इस उपयोग का कभी अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में प्रवेश हो जाये, बाहर में उपयोग न जाये तो ये जो पचासों संकट छाये हुए हैं, अनेक परेशानियों से विक्षिप्त हुआ यह जीव दु:ख भोग रहा है, वे सब क्लेश क्षणभर में ही नष्ट हो जायेंगे। थोड़ा ही तो काम है कि जरा अपने ज्ञानस्वरूप के भीतर आ जायें और यह जो ज्ञानानन्दस्वभाव पड़ा हुआ है, उसमें ही विहार किया जाए तो सारे संकट क्षणभर में ही तो समाप्त हो जायेंगे। अहो ! इस उपदेशामृत को सुनकर हमारा आत्मा आत्मउपयोग करे, इस उपाय से अपने अन्तर में ही प्रवेश करके रहे तो क्षणभर में ही सारे संकट समाप्त हो जायेंगे।

यात्रा में पाथेय का महत्त्व- जैसे कोई मुसाफिर बम्बई जाये, वह दो या डेढ़ दिन में पहुंचता है, तो साथ में खाने से भरा हुआ टिफनबाक्स ले जाये तब फिर उसे क्या डर है? जब कभी भूख लग जाये तो झठ खोल ले और खा ले एक दो पूड़ी। अपने ही पास तो उसका भोजन है। क्षुधा के दु:ख का मिटाने का साधन अपने हाथ में ही तो है। जब भूख लगी तब खा लिया, वहां काहे का कष्ट? यों ही अपने ही पास ज्ञानानन्दस्वरूप से भरा हुआ अपना ही आहार अपने ही साथ है। हम यात्रा कर रहे हैं बहुत बड़ी, विकट। कहां से कहां जा रहे हैं? पहुंच रहे हैं, मरकर कहां से कहां जन्म लिया करते हैं। बड़ी यात्रा में हम जा रहे हैं तो साथ में यह ज्ञान का पाथेय हो, टिफनबाक्स यह हमारा अपने पास हो, फिर क्या डर? जब भी कभी बाह्यदृष्टि के कारण कषाय आये तो उस ही समय अपने आपके भीतर में आये और उस ज्ञानभोजन को खा लें, ज्ञानसुधारस का पान करके खूब प्रसन्न रहें। क्या परवाह है?

विवेकी जनों का साहस- विवेकी पुरुष में बड़ा साहस है। कुछ समागम मिला है तो उसका भी वह प्रबन्ध बनाता है, फिर भी कुछ से भी कुछ हो जाये तो उसके इतना साहस है कि हो गया तो हो जाने दो ना, कौनसा घाटा पड़ गया है? जैसे लोग कहते हैं कि मारवाड़ीजन अपनी गरीबी मिटाने के लिए घर छोड़कर कलकत्ता जैसे बड़े शहर में पहुंच जायें और वहां खूब व्यापार आदि का साधन हो, बड़े धनी हो जायें और बाद में वह धन कदाचित् खत्म हो जाये, गरीबी आ जाये, तो वहां उनके साहस होता है कि क्या हो गया? लोटा डोर ही लेकर घर से निकले थे और अब इतना ही रह गया तो कौनसा बिगाड़ हुआ? फिर देखा

जायेगा। यों ही जानों कि यह आत्मा अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरण भी कर जायेगा। इसका सब कुछ छूट जायेगा। छूट जाये तो छूट जावो। यहां स्वरूप ही ऐसा है कि सर्वत्र अकेला ही जन्म करना और मरना होता है।

कौनसा यहां घाटा पड़ गया है? हे तपस्वीजनों ! जब कोई रागद्वेष उत्पन्न होने लगें तब जितना जल्दी हो सके अपने आपमें विराजमान् चैतन्यस्वरूपमात्र शाश्वत निज स्वभाव में प्रवेश करो। ये रागद्वेष क्षणभर में शांत हो जायेंगे।

वैरभाव के विनाश का उद्यम- किसी पुरुष से किसी घटना में कुछ विरोध हो गया हो, वैर हो गया हो और उस बैर भाव के कारण परेशानी भी चल रही हो तो उस परेशानी को मिटाने का सीधा उपाय यह है कि जिससे विरोध हुआ है, बैर हुआ है उससे मधुर वार्ता करके बैरभाव खत्म कर दें। उस बैरी के विनाश करने का यत्न न करे। जो बैर मान रक्खा है सो वह भी बैर भाव मिटा दे और तुम भी बैर भाव छोड़ दो, ऐसा परस्पर में वातावरण हो जाय तो अब कहां रहा बैर? कहां रहा विरोध? कहां रहा बैरी? कहां रहा विरोधी? ऐसे समीचीन उपाय को विवेकी पुरुष ही कर सकते हैं।

रागद्वेष का मूल अज्ञानभाव- भैया ! एक बात और देखो कि यह विपदा का कारण, स्रोत अज्ञानभाव है। जब समस्त परवस्तु अत्यन्त पृथक् हैं तो उन वस्तुवों में राग किया जाना, यह क्यों हो गया? क्या जरूरत थी, कौनसा काम अटका था? यह आत्मा तो शाश्वत परिपूर्ण है, इसमें कोई अधूरापन नहीं है कि इसकी पूर्ति के लिये किसी परवस्तु की अपेक्षा की जाये। क्यों हो गया राग? अज्ञानभाव था, इसलिये हो गया। कोई राग की आवश्यकता न थी। सर्व पदार्थ हैं, सदा परिणमते रहते हैं, अपनी इस अवस्थाओं की पलटना किया करते हैं। मैं भी अपरिपूर्ण नहीं हूं। जगत् के अन्दर समस्त पदार्थ अपरिपूर्ण नहीं हैं, फिर क्या आवश्यकता थी जो कि रागविकार बनाया जाये। अरे ! कुछ आवश्यकता देखने की अटकी है क्या? आवश्यकता देखकर रागद्वेष हुआ करते हैं क्या? वह तो अज्ञान का फल ही तो है। इस अज्ञान में स्थित रहकर ही तो रागद्वेष हुआ करते हैं।

आत्महित व अन्त:शरण- जगत् के सर्व जीव न्यारे हैं— ऐसे ही आपके गृह में उत्पन्न हुये दो चार प्राणी भी उतने ही बराबर न्यारे हैं, लेकिन औरों में तो राग होता नहीं, घर के दो चार लोगों में राग हो जाता है। हो जाये राग, वह तो गृहस्थों की एक पद्धति है, पर अन्तर में प्रतीति जो बन गयी है कि ये मेरे हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं-- इस विरुद्ध प्रतीति ने ही इस चैतन्यप्रभु को बरबाद कर दिया है। किसकी शरण में जायें कि ये संकट मिट जायें? खूब देख लो। बाहर में कहीं कोई शरण नहीं मिलेगा कि जिससे संकट मिट सकें। यह खुद ही अपने आपकी शरण में आये और अपने को अकेला ज्ञानमात्र निरख सके तो इसके संकट दूर हो सकते हैं। यह पड़ा है काम पहिले करने के लिये। दुकान, मकान आदि की सारी व्यवस्थाएँ करनी पड़ रही हैं, पर ये काम करने के लिये नहीं हैं। करने के योग्य काम तो यह आत्महित का है।

आत्महित का परिणाम- आत्महित आत्मा के सहजस्वभाव की श्रद्धा में है और उसके ही अनुरूप अपनी व्यवस्था बनाने में है। इतना ही तो सारे संकट दूर करने का उपाय है। यह उपाय न किया जाये तो संकट तो आयेंगे ही। संसार के जन्ममरण का सिलसिला तो चलेगा ही। क्लेशों से बचना है तो एक ही कार्य करना है कि निज को निज पर को पर जान। जो आत्मस्वरूप है, आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानस्वभावमात्र, ज्ञानानन्दभावस्वरूप है उसको जानों कि यह मैं हूं और इस भाव के अतिरिक्त अन्य जो कुछ परतत्त्व हैं उनको समझो कि ये पर हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं तो फिर शांति का मार्ग अवश्य मिलेगा। कुछ सरल बनो। जो मन में हो सो वचनों से कहा जाय, जो वचनों से कहे सो काय से करे, कोई पुरुष मेरे कारण धोखे में न आ जाय, इतनी सरलता हो तो उस सरल पुरुष को आकुलताएँ नहीं आ सकती।

लोकसुख का भी कारण सत्यवर्तना- यद्यपि आजकल लोग कहते हैं कि जो जितना चालाक होगा, चंट होगा, धोखा दे सकने वाला होगा वह उतना ही सुखी रहेगा, वैभव वाला बन जायेगा, सर्व समृद्धियां हो जायेंगी और जो सरल होगा उसे ये सब वैभव कहां से मिलेंगे? लेकिन वैभव भी मिलता है तो वह निष्कपटता से, सरलता से, सच्चाई से और ईमानदारी से। किसी पुरुष के बारे में पब्लिक यदि यह जान जाय कि यह तो झूठा है, बेईमान है, मायाचारी है तो उसका कौन ग्राहक बनेगा? चाहे मायाचार किया हो, अशुद्ध बरताव किया हो, लेकिन जब यह जाहिर हो कि मैं सत्य हूं और धोखा नहीं दे सकता हूं, ऐसी बात व्यक्त हो तो उसकी दुकान चल सकती है।

सरल स्वतत्त्व के आदर में कल्याण- भैया ! सरल बनो, सज्जन बनो, फिर कुछ परवाह न करो। बुद्ध होना और बात है, सरल होना और बात है। बुद्धू तो ठगाया जायेगा और सरल पुरुष कभी ठगाया न जायेगा और फिर जेब से कुछ पैसे निकल गये तो इसमें क्या ठग गये? यदि हम दूसरे को ठगें तो हम स्वयं ठग गये। हमारी संसार यात्रा और लम्बी हो जायेगी और यदि किसी दूसरे ने मुझे ठगा है तो मैं कुछ भी नहीं ठगा गया। न्याय नीति से रहना ही मेरे सुख का कारण बनेगा। हे तपस्वी पुरुषों ! जब कभी मोहवश राग और द्वेष उत्पन्न हों तो थोड़ा ही तो इलाज है। अपने आपमें बसे हुए निज तत्त्व की भावना करो। बस सारे संकट क्षण मात्र में ही समाप्त हो जायेंगे।

श्लोक 40

यत्र काये मुने: प्रेम तत: प्रच्याव्य देहिनम्।

बुद्धया तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति।।40।।

रागविलय का यत्न- राग और द्वेषभाव में प्रबल है राग। द्वेष का संसार तो शीघ्र मिट सकता है किन्तु राग का संस्कार मिटना कठिन है। द्वेष भी राग के कारण हुआ करता है। जिस किसी से राग है उसमें जो बाधक बने उससे द्वेष हो जाता है। तो द्वेष होने में कारण पड़ा किसी विषय का राग होना। तो राग का

परित्याग होना बहुत आवश्यक है। कैसे राग मिटे? इस ही विषय में फिर भी यह श्लोक कह रहे हैं। मुनि को जिस शरीर में प्रेम हो रहा हो उससे इस देही को अर्थात् आत्मा को अलग हटाकर बुद्धि के द्वारा उससे भी उत्तम कार्य में लगा देवे तो प्रेम नष्ट हो जाता है।

मोहियों के प्रेम का आश्रय असार शरीर- यह औदारिक शरीर जिसमें अनेक रोग भरे हुए हैं, आयुर्वेद बताता है कि जितने रोम हैं उससे भी कई गुने रोग शरीर में हैं, रोगों से भरा है, घिनावना है, मिटने वाला है। कौनसा इस शरीर में सार है कि उसे आंखों से निरखा करें? कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता कि शरीर से बहुत अच्छा तो कपड़ा है। खूब रंगीन, चटकीली रेशमी बनारसी सुन्दर साड़ी पहिनकर इस शरीर की शोभा बढ़ाई जाती है। शरीर देखो तो वही है और कहो रूपरंग का भी भद्दा शरीर हो और कपड़े पहिन लिए जायें चमकीले तो वहां अंदाज लगावो कि उस शरीर से भी अच्छा कपड़ा है। शरीर में तो धोखा है, पसीना निकल आये, बदबू करे, पर ये कपड़े तो कोई धोखा नहीं देते। जैसे हैं सो ही हैं।

श्रृंगार का कारण आधार की अशोभनीयता- भैया ! ज्यादा श्रृंगार क्यों किया जाता है, इसलिए कि शरीर सुहावना नहीं है, अच्छा नहीं है और इसको अच्छा बनाना है तो श्रृंगार करें, सजावट करें जिससे शरीर की शोभा और बढ़ जाय। क्योंकि शरीर तो शोभा वाली चीज ही नहीं है और उसकी शोभा बढ़ाना है तो इतने गहने लाद लिये, मानों सिर पर मेंढक बैठा लिया, कान में ततैया तथा नाक में मक्खी बैठा लिया, कितने ही आभूषण पहिनने पड़ते हैं, क्योंकि शरीर में इतनी शोभा ही नहीं है कि बिना इतना श्रृंगार किए भला लगे। जिस अपवित्र शरीर से इसे प्रेम है उस शरीर से उपयोग को हटावे और इससे भी उत्तम जो काय है—क्या है? ज्ञानशरीर आत्मतत्त्व, उसमें उपयोग को लगा दे तो प्रेमपरिणमन नष्ट हो जायेगा।

निजपरिचय बिना हाड़ के ढांचे में रमण- जब तक इस प्राणी को अपने आधारभूत ज्ञानानन्दस्वभावी निराकुल शांत निज उपवन में क्रीड़ा करने का अवकाश नहीं मिलता तब तक ही यह जीव हाड़ मांस के पिण्ड में प्रीति करता है। क्या है? ऊपर चाम की चादर पतलीसी मढ़ी है, मक्खी के पंख बराबर चादर मढ़ी है उससे यह गंदगी ढकी है। यदि यह पतली चमड़ी अलग हो जाय तो कैसा वीभत्सरूप इसका लगे और अब भी देखो तो इस चर्म को तो गौणकर दो और इस सिर में जरा ध्यान देकर देखो है क्या? जैसे मरघट में पड़ी हुई मनुष्य की खोपड़ी हो और इस मनुष्य की खोपड़ी हो तो इन दोनों में अन्तर है क्या कुछ? कुछ भी तो अन्तर नहीं है। इन दोनों का भीतर से ढांचा देख लो तो वहां फिर रागभाव अथवा खोटा परिणाम न होगा।

असार शरीर के स्नेह की व्यर्थता- यह एक शरीर अजंगम है, यह खुद चल नहीं सकता, यह खुद कोई कार्य नहीं कर सकता। इसमें जीव का सम्बन्ध है इसलिए ये सारे नटखट हो रहे हैं। जैसे मोटर जहां खड़ी है सो खड़ी है, ड्राइवर हो तो चले, इसी प्रकार यह जो पौद्गिलक शरीर चला करता है वह इस चेतन जीव के सम्बन्ध से चला करता है। यह शरीर स्वयं तो महाभयानक है, इसमें क्या राग करते हो। कोई कहे कि भयानक ही सही, तो क्या हुआ, अपना ही तो शरीर है। अरे भयानक के साथ यह महाअपवित्र भी है। अपवित्र भी है तो रहो, भयानक भी है तो रहो, है तो अपना ही शरीर। कहते हैं कि इन दो के अतिरिक्त यह

विनाशीक भी है, नष्ट हो जायेगा। कोई कहे— हो जाय नष्ट— जब नष्ट होगा तब की बात है, पर जब है तब तक तो शरीर का उपयोग उपभोग करो ना खूब। तो कहते हैं कि इन तीन ऐबों के अतिरिक्त चौथा ऐब इसमें यह है कि यह संताप ही पैदा किया करता है। ऐसे इस असार शरीर में स्नेह करना व्यर्थ है।

लोक में गर्व लायक वस्तु का अभाव- जो जन शरीर को नजर में रखकर घमंड बगराते हैं, गर्व करते हैं, आहा मैं कितना सुन्दर हूं, कितना पुष्ट हूं, कितना मनोहर हूं, ऐसा जो गर्व किया करते हैं उनकी वह महामूढ़ता है। क्या सुन्दरता है? क्या नाक के अन्दर नाक नहीं भरी है, मुख के अन्दर राल, थूक आदि नहीं भरे हैं? यह सारा अपवित्र शरीर है तिस पर भी गर्व किया जाय तो यह किस बात का गर्व है? शरीर तो गर्व के लायक नहीं है। जब शरीर भी गर्व के लायक नहीं है तो क्या धन वैभव गर्व के लायक है। ओह मेरे पास हजारों लाखों का धन है, इतनी जमीन है, ऐसा ठाठ का मकान है यह भी गर्व के लायक बात नहीं है। ये भी विनाशीक हैं। और परपदार्थ हैं, इनका ध्यान करने से तो आकुलता ही बढ़ती है, शांति नहीं आती है।

धन की व्यर्थ चिन्ता- जैसे कोई पक्षी अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिए हुए हो तो अनेक पक्षियों के द्वारा वह पक्षी सताया जाता है और वह मांस का टुकड़ा छीना लेते हैं। यह तो कांव-कांव करता रह जाता है। यों ही इस धन वैभव का प्रसंग जब तक है तब तक तो उस पर अनेक लोग टूटते हैं, लगावो टैक्स। एक लाख की आमदनी हो तो उसमें शायद 80, 90 हजार टैक्स में चले जाते हैं। अरे तो 10 ही हजार कमाओ ना और कमायी में स्वत: अगर आ जाये लाखों का धन तो आ जाये ना, हमारा उसमें क्या बिगाड़ है? जहां जायेगा उसी का लाभ है, पर हम धन के लिये ही, कमाने के लिये ही आकुलता मचाएँ, चिंताएँ किया करें तो उससे क्या होगा, उसका क्या किया जायेगा? दूसरों को ही दे जायेंगे अथवा स्वयं कहीं न कहीं चला जायेगा।

धन वैभव की उपेक्षा में ही हित- यदि दूसरे को धन दे गये, तब भी चलो कुछ भला है, पर जिसको दे गये, उसका भी तो जुम्मा नहीं है कि उसके पास टिक सकेगा या नहीं। यहां तो जीवनभर हाय हाय करके जोड़ा हुआ धन दिया और जिसे दिया वह निकल गया भाग्यहीन तो वह उस धन को चन्द दिनों में ही बरबाद कर देगा। और मानों न भी दे गये किसी को, थोड़ी ही पूंजी उसके पास है और है वह सपूत तो कितना और धन वह कमा लेगा। धन वैभव के संचय के लिये चिंताएँ करना यह विवेक नहीं है। हां उदय की प्रबलता में लाखों आ जाय तो क्या हानि है? आते हैं तो आने दो। धन वैभव की उपेक्षा में ही हित है।

उदारभाव- बुन्देलखण्ड में एक राजा गुजर गया। रानी उस गद्दी की मालिक हुई। उसका बच्चा केवल 9-10 वर्ष का था, पर उसके उदारता की वृत्ति सहज थी। सैकड़ों हजारों रुपयों का रोज अपने हाथ से वह दान दे डालता था। जो मिले सो दान में दे डाले। एक बार मां ने पूछा कि क्यों बेटा ! यह जो सामने पहाड़ खड़ा हुआ है ना, उतना बड़ा सोने का ढेर, रुपयों का ढेर दे दिया जाये तो वह तुम कितने दिन में दान कर दोगे? तो लड़का बोला कि मां मैं तो एक मिनट में दान कर दूंगा, अब उठाने वाले चाहे कितने ही दिनों में उठावें। हम उसमें कुछ नहीं कर सकते। भाग्य से धन आता है, आने दो, मगर चिंतायें करके धन संचय

करना, अनावश्यक धन संचय करना तो अच्छा नहीं है। उदयवश सहज ही आये तो उसका उपयोग और उपभोग करो। जब शरीर भी गर्व लायक नहीं है तो धन वैभव का क्या गर्व करना?

लोकविभूति की मायारूपता- एक सेठ ने बहुत बढ़िया हवेली बनवायी, उसका उद्घाटन कराया। सभा जुड़ी तो लोगों ने सेठजी की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। सो सेठजी खड़े होकर कहने लगे (कहा तो मधुर शब्दों में, पर भीतर भरा है घमण्ड) कि भाईयों ! इस हवेली में यदि कोई नुक्स हो तो कृपा करके बता दो, आप लोगों की इच्छा के अनुसार उस त्रुटि को दूर कर दिया जायेगा। सभी ने कहा कि बहुत अच्छी हवेली है, इसमें कोई भी त्रुटि नहीं है। एक जैन खड़ा होकर बोला कि सेठ जी ! इसमें हमको दो बड़ी गलती नजर आ रही हैं। सेठ बोला इञ्जिनियरों ! देखो यह साहब जो गलतियां बतावें, फौरन दूर करो। अच्छा बतावो गलती। जैन कहने लगा कि पहिली गलती तो इसमें यह है कि यह हवेली सदा न रहेगी। ओह यह सुनते ही सेठजी के कान खड़े हो गये कि यह गलती कैसे मिटे?..... खैर ! दूसरी गलती बताना। दूसरी गल्ती यह है कि इस हवेली का बनवाने वाला भी सदा न रहेगा। तो यह भी गलती वह कैसे मिटावे? तो किस बात पर गर्व है? गर्व करने लायक यहां कोई पदार्थ नहीं है। बड़ी नम्रता से रहो, सबको अपने समान स्वरूप वाला निरखो। किसी को तुच्छ न मानो। कुछ भी नहीं अटकी है दूसरों को ओछा मानने से। बल्कि दूसरों को तुच्छ गिनने से पापकर्म का बन्ध होता है, वह ब्रह्मस्वरूप के दर्शनमात्र से ही दूर हो जाता है।

किस पर गर्व- भैया ! किसी भी बात पर गर्व न होना चाहिये। कुछ ज्ञान मिला तो क्या मिला? केवलज्ञान के सामने सब ज्ञान सूर्य के आगे दीपक बराबर भी नहीं है। किन्हीं लोगों के द्वारा सम्मान, प्रतिष्ठा, इज्जत मिल गई तो क्या मिल गया? सब मायामय पुरुष हैं, उनकी मायामय चेष्टा है, कौनसा तत्त्व मिल गया? अच्छे कुल में पैदा हो गये तो उसका भी क्या घमण्ड? अरे यह देह ही मेरा नहीं है, बल्कि देह के ही कारण इस संसार में यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। तो फिर इस देह के कुल पर, पैदायश पर, परम्परा पर क्या गर्व करना? मां का घराना अच्छा हुआ, मेरी मां बड़े अच्छे घराने की है, अरे उस घराने पर भी क्या गर्व करना? जो कुल की बात है, वही जाति की बात है। शरीर में बल मिला तो उसका भी क्या गर्व करना? जिसके शरीर में बल ज्यादा हो, वह अपन से बड़ा हो—ऐसा तो कुछ नियम नहीं है। जितना बल भैंसों में है, जो ओं-ओं करता है, उसका बीसवां हिस्सा बल शायद मनुष्य में होगा अर्थात् 20 मनुष्यों के बराबर साधारणतया एक भैंसा होता है। और देखो मनुष्य से ज्यादा बल तो गधे में। तो इस शरीर के बल का क्या गर्व करना। यद्यपि बल भी पुण्य के उदय से होता है। ठीक है, पर यह तो नियम नहीं है कि जहां शरीरबल बढ़ा हुआ है, वहां बड़वारी है। कई महापुरुष महाबली हुए हैं, उनमें ज्ञानविशेष भी था, इससे बल की प्रशंसा है।

ऋद्धि तपस्या का क्या गर्व- ऋद्धि सम्पत्ति मिल गई तो क्या हुआ, क्या मिल गया है? सब बाह्यपदार्थ हैं। कुछ तपस्या हो गयी, कुछ व्रत हो गया, कुछ धर्म कर्म करते हैं तो प्रथम तो यह भी ठीक निश्चित नहीं है कि धर्म, कर्म, तप और व्रत ढंग से भी हो रहे हैं या अंटसंट। तो क्या उस तपस्या का गर्व करना? अज्ञान में की हुई तपस्या यदि कोई कार्यकारिणी हो तो जंगल में चौमासे में वृक्ष तो खूब पानी सहते हैं, अपने से पानी

में खड़ा भी नहीं हुआ जाता है, क्योंकि बरसात की बूंदे बहुत लगती हैं। पेड़ तो चौमासे भर पानी सहें, ठण्ड में ठण्ड सहें, गर्मी में गर्मी सहें तो केवल शारीरिक तपस्यामात्र से कोई संकटों से मुक्त हो जाये, यह तो स्वरूप ही नहीं है। मनुष्य को तपस्या लाभदायक है, किन्तु तपस्या साक्षात् उतनी लाभदायक है कि विषयकषाय गंदी बातों में चित्त न जाये, पर ब्रह्मस्वरूप में चित् रम जाये, यह तो ज्ञान बिना नहीं हो सकता। इस लोक में गर्व के लायक कोई पदार्थ नहीं है।

परमार्थदृष्टि में विसंवाद का अभाव- जिस शरीर में प्रेम हो उस शरीर में और आत्मा में भेदविज्ञान बनावो। क्यों इस बात को तरसते हो कि दुनिया के लोग मुझे कुछ समझ जाएँ। अरे ! तू है क्या? जो शरीर है, सो तू नहीं है। शरीर तो जला दिया जायेगा। जो तू है अन्तरंग में, चैतन्यस्वरूप उसे कोई जानता नहीं है। यदि कोई जान जाये तो वह स्वयं ज्ञाता हो गया। उसके लिये व्यक्तिभेद नहीं रहा। तब किसमें अपना यह पोजीशन रखना है, किनमें अपना नाम रखना है? ओह ! मायाप्रपन्च का बड़ा संकट है। कोई आदमी अकेले में गाली दे दे, दो चार चांटे भी लगा दे तो उतना बुरा महसूस नहीं होता है, जितना किसी दूसरे आदमी के सामने वह गाली दे दे। तब तो यही लगता है कि इसके सामने मेरा अपमान हो गया। अरे ! अपमान भी मायास्वरूप है, अपमान करने वाला भी मायास्वरूप है और अपमान मानने वाला भी मायारूप है। यहां परमार्थ की बात तो कुछ है ही नहीं। झगड़ा किसका?

सूत न कपासा, जुलाहा से लठ्ठमलठ्ठ- एक जुलाहा और एक ग्वाला दोनों मित्र थे। एक गांव में रहते थे। एक बार दोनों एक गांव को जा रहे थे। रास्ते में मिला एक मैदान। जुलाहा बोला कि यह मैदान मुझे मिल जाये तो मैं इसमें कपास बोऊँगा और खूब वस्त्रादिक बुनूंगा। ग्वाला बोला कि यह मैदान हमें मिल जाये तो मैं इसमें भैंसे चराऊँगा। जुलाहा बोला कि तू भैंसे कैसे चरायेगा, मैं कपास बोऊँगा। ग्वाला बोला कि तू इसमें कपास कैसे बोवेगा, मैं भैंस चराऊँगा। जुलाहा ने 10-20 कंकड उठाकर इधर उधर फेंककर कहा कि अच्छा लो, यह मैंने कपास बो दिया, सो ग्वाले ने दो चार बड़े कंकड उठाकर फेंककर कहा कि अच्छा लो वह एक भैंस मेरी चरने गयी। अब उन दोनों में क्रोध बढ़ा, लो दोनों में लड़ाई हो गयी, लठ्ठमलठ्ठा हो गया। अरे न जमीन उसको मिलनी थी, न उसको, मगर यों ही व्यर्थ में लड़ मरे। ऐसे ही इस विश्व में कोई परमार्थ की बात नहीं है। सब मायारूप हैं। असमानजातीय द्रव्यपर्याय बताया है इन सब प्राणियों को अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों के सम्बन्ध से होने वाला यह माया स्वरूप है। बात भी न कुछ है, पर विसम्वाद, तृष्णा, विडम्बनाएँ इन सबका नाच हो रहा है।

भैया ! मनुष्यभव पाने का वास्तविक लाभ यह है कि हम अपने आत्मा के उस सहजस्वरूप को पहिचानें जो आत्मा के सत्त्व के कारण आत्मा में सहज अनादि से है। कौनसा स्वरूप है मेरा? ज्ञान और आनन्दस्वरूप। ज्ञान के कोई रंग होता है क्या, ज्ञान में कोई रस होता है क्या? न गंध है, न शब्द है। ज्ञान तो एक जाननभाव है। और वह जाननभाव स्वत: ही आनन्दभाव को लिए हुए है। मात्र जानन में किसी प्रकार की आकुलता नहीं है। ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप मेरा है। मेरा वैभव ज्ञानशक्ति और आनन्दशक्ति है, मेरा घर मेरे आत्मा का ज्ञानतेजमंडल है, अर्थात् आत्मप्रदेश है। मेरा परिवार मेरी अनन्त शक्ति है। मैं मेरे से आया हूं, मैं

मेरे में जाऊँगा। मेरी वर्तमान दुनिया यह मैं ही हूं। मेरा परलोक यह मैं ही हूं। परलोक भी पहुंच चुका तो वहां पर मैं मैं ही रहूंगा। ऐसे मेरे सर्वस्वसारभूत ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मतत्त्व को यदि न पहिचाना तो मनुष्यभव पाकर क्या किया? विषयों में, वैभव में ही अपना जीवन गुजार दिया तो कुछ न पाया।

विषयभाड़ से बचाव की भावना- लोग एक अहाना कहा करते हैं कि 12 वर्ष दिल्ली रहे और झोंका भाड़। भाई कहां गये थे? दिल्ली। कितने वर्ष रहे? बारह वर्ष। क्या किया? भाड़ झोंका। अरे भाई तुम्हें भाड़ ही झोंकना था तो यहां का गांव क्या खराब था? यहां ही अपने घर में रहकर भाड़ झोंक लेते। इसी प्रकार कहां गये? मनुष्यभव में। कितने वर्ष रहे? लगभग 50 वर्ष। क्या किया? विषयों का भाड़ झोंका। अरे भाई विषयों का भाड़ ही झोंकना था तो यह पशुपर्याय क्या खराब थी? पशुपर्याय में ही रहते। मनुष्यपर्याय में क्यों आये? इतना उत्कृष्ट मनुष्यभव पाकर यदि हमने विषयों में ही सारा जीवन गँवा दिया तो कुछ न किया। बल्कि सारा नुकसान ही रहा। सोच लो। जो बुद्धि बड़ी उम्र होने पर आती है वह बुद्धि यदि जल्दी ही आ जाय तो इस जीव का बहुत भला हो। कुट पिट जाने के बाद जो बुद्धि आती है वह बिना कुटे पिटे में आ जाय तो बड़ी भली बात है। मगर कहां से आये? जब कुट लेते हैं, पिट लेते हैं, बरबाद हो जाते हैं तब समझ में आता है कि ओह ! कहां फँसे रहे, कहां चित्त दिये रहे? आत्मा का सार वहां कहीं न था। सार मिला तो इस आत्मतत्त्व में। पर इस आत्मतत्त्व की सारभूत बात सीखने के लिए श्रम और समय देना होगा।

ज्ञानसाधना का पुरुषार्थ- एक जिज्ञासु पहुंचा साधु के पास। कहा महाराज ! कुछ शिक्षा दीजिए। साधु ने कहा, अच्छा सीखो— परमंब्रह्म, एकोऽहं, एकं ब्रह्म। अच्छा साहब और पढ़ावो। फिर साधु ने वही बोल दिया। और पढ़ावो फिर वही बोल दिया। शिष्य ने कहा— महाराज अब और कुछ पढ़ावो। साधु ने कहा अच्छा, यदि तुम्हें और कुछ सीखना हो तो अमुक गांव के पांडे जी के पास जावो। पांडे जी के पास गया वह शिष्य सीखने। कहा-- महाराज हमें कुछ विद्या सिखावो। पांडे जी ने कहा— अच्छा हम तुम्हें कुछ काम देते हैं सो काम करो और विद्या सीखो। हां हां करेंगे। देखो हमारी गौशाला में जो गोबर होता है सो उसका कंडा थापना, गौशाला साफ करना और फिर विद्या सीखना। अच्छा महाराज। उसने यह काम किया बारह वर्ष तक। बारह वर्ष के बाद कहा, महाराज अब अन्तिम सारभूत विद्या सीखा दो। बोला परमब्रह्म, एकोऽहं, एकं ब्रह्म। जिज्ञासु ने कहा, अरे इतनी बात तो हमें 12 वर्ष पहिले साधु जी ने सीखा दी थी। अरे तो और क्या सीखायें? तो क्या महाराज हमने 12 वर्ष मुफ्त ही गोबर उठाने का काम किया? अरे भाई इतनी बात सीखने के लिए 12 वर्ष तक ये सारे काम करने ही चाहियें थे। हम कुछ श्रम न करें, कुछ समय न दें, सत्संग न बढ़ायें और चाहे कि हमारा भला हो जाये तो ऐसा कैसे हो सकता है? आत्महित चाहते हो तो ज्ञानार्जन करो, सत्संग करो, कषाय को पी डालो याने दूर करो, ऐसी ही वृत्ति से हम आप कल्याण के सम्मुख होंगे।

श्लोक 41

आत्मविभ्रमजं दु:खमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।

नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तप:।।41।।

क्लेश का कारण भ्रम- जितने भी क्लेश होते हैं वे आत्मा के भ्रम के कारण होते हैं-- अर्थात् आत्मतत्त्व में यह मैं हूं, इतना भ्रम हुआ कि सारे क्लेश इस पर आ जाते हैं। कोईसा भी क्लेश हो, किसी की भी कहानी सुनो— यदि कोई अपना क्लेश कह रहा है तो पहिचानते जावो कि इसने अपनी दृष्टि में कहां भूल की है जिससे इसे क्लेश का अनुभव होता है। कोई पुरुष कहे कि मेरे तो बड़ा कष्ट है, अमुक में टोटा हो गया, उसमें अब मुनाफा नहीं है अथवा कोई पड़ौसी बड़ा धन जोड़ने लग गया है, बड़ा कष्ट है। कह कौन रहा है? एक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव। वह जितना है तितना ही है, उसमें से कुछ गया नहीं और न उसमें कुछ आया था, लेकिन परद्रव्यों में जो उसने यह दृष्टि बना ली कि मैं इतना वैभववान् हो गया हूं ऐसा जो भ्रम किया था उस भ्रम के कारण क्लेश हो रहा है।

आर्तभाव की भ्रममूलकता- जितने भी दु:ख हैं, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदि के क्लेश हैं, वे भ्रम से हैं। कोई कहे कि मेरा अमुक बड़ा मित्र था, मेरा लड़का, मेरा कोई रिश्तेदार, स्त्री कोई भी विमुक्त हो गया है, गुजर गया है, मैं अकेला ही रह गया हूं, बड़ा कष्ट है। अरे कष्ट कहां है, तुम तो अकेले ही थे। जिस भव से आये, क्या दूसरे को साथ लेकर आये अथवा जावोगे, तो क्या किसी को साथ लेकर जावोगे? अकेले ही थे, अकेले ही रहते हो, कहां कष्ट है, लेकिन परपदार्थों में यह मेरा है— इस प्रकार की जो कल्पना बना रक्खी उसके कारण इस समय कष्ट हो रहा है। आत्मा के भ्रम से उत्पन्न हुआ क्लेश मिटेगा कैसे? आत्मज्ञान से। यह मेरा है, इस कल्पना के कारण होने वाला क्लेश मिटेगा कैसे? यह मेरा नहीं है, इतना ज्ञान होने से क्लेश मिट जायेगा।

ममताभाव का क्लेश- एक व्यापारी अचानक भाग्य साथ न देने से बहुत घाटे में पड़ गया और दूर किसी शहर मानों कलकत्ता वह चला गया अपना गुजारा करने के लिए। घर पर एक वर्ष का बालक और स्त्री को छोड़कर धन कमाने के लिए चला गया। वहां उसका अच्छा रोजगार लगा और उस रोजगार में धन की आय में इतना व्यस्त हो गया कि उसने 14 वर्ष तक घर आने का मौका न पाया। अब बच्चा बढ़कर 15 वर्ष का हो जाता है। मां कहती है बेटा ! तुम अपने पिता को लिवा लावो। 14 वर्ष हो गए हैं, अमुक शहर में हैं, अमुक मुहल्ले में हैं, अमुक नाम है। यहां से लड़का बाप को लिवाने के लिए चला और उसी समय वहां से बाप चला अपने घर के लिए। रास्ते में एक बड़ी धर्मशाला में पास-पास के कमरे में अलग-अलग वे दोनों ठहर गये, पर बाप न बेटा को पहिचाने और न बेटा बाप को पहिचाने। अचानक हुआ क्या कि उस बेटे के पेट में बड़ा दर्द हुआ, वायुगोला उठा, और पिता के पास उस रोग की दवा भी थी, लेकिन उस लड़के की चिल्लाहट सुनकर जब बाप को नींद न आयी तो चपरासी को बुलाकर कहता है कि यह कौन लड़का रो रहा

है, इसे धर्मशाला से बाहर करो। हम दो दिन के जगे भये हैं, नींद नहीं आती है। चपरासी कहता है कि रात्रि के 12 बज गए, इसे कहां निकालें? इसी हुज्ज में लड़के का पेट दर्द ज्यादा बढ़ा और दिल पर अटैक हुआ, पेट दर्द के मारे वह गुजर गया।

अब दूसरे दिन बाप घर पहुंचता है, सब कुशल पूछता है और वह कहता है कि लड़का कहां गया? स्त्री ने बताया कि लड़के को आपको ही तो लिवाने के लिये भेजा है। अब वह चला अपने लड़के को ढूंढ़ने के लिये। पता लगाते-लगाते उस धर्मशाला में भी पहुंचा। मैनेजर से पूछा कि यहां अमुक नाम का कोई लड़का तो नहीं आया? उसने रजिस्टर उठाकर देखा और कहा कि हां, अमुक नाम का लड़का दस दिन पहिले यहां आया था, अपने पिता को लिवाने जा रहा था। फिर क्या हुआ? उसके पेट में दर्द हुआ और दर्द के मारे गुजर गया। अब गुजरने का नाम सुनकर बेहोश होकर गिर पड़ा। भला बतावो कि जब लड़का सामने था, खूब देखता था तब तो प्रेम न उत्पन्न हुआ, तब तो उसे भगाने की ही पड़ी थी और जब मर गया, सामने नहीं है, किन्तु इतना ख्याल भर आया कि वह मेरा ही पुत्र था तो इस कल्पना से वह बेहोश हो गया।

मोही जीव की चार आन्तरिक चोटें- भैया ! दु:ख देने वाला दूसरे पदार्थ का संयोग-वियोग नहीं है, किन्तु मेरा ही इस प्रकार का परिणाम शल्य की तरह दु:खी किया करता है। चीज हो तब भी दु:ख, न हो तब भी दु:ख। दु:ख का कारण तो भ्रम है, वस्तु का मिलना या विघटना ही दु:ख का कारण नहीं है। प्रथम तो इस मोही जीव की शरीर में आत्मबुद्धि हुई है कि यह मैं हूं। पश्चात् दूसरे के शरीरों में दूसरे आत्मा हैं-- ऐसी ही बुद्धि हुई। इसके बाद फिर धनसंचय की आवश्यकता जानी और उसमें अपनी पोजीशन समझी। उसमें ''यह मेरा है'' ऐसी बुद्धि हुई, पश्चात् सबसे कठिन समस्या मुश्किल से मिटने वाला एक राग है-- वह है यश का राग। इस यश के राग में ही वह सारा का सारा जीव लोक बहुत ही परेशान है।

पशु पक्षियों में भी शान का क्लेश- बछड़ें भी दो लड़ने लगें तो वे गम नहीं खाते हैं। वे लोहूलुहान भी हो जाते हैं, तो उनके भी यश पोजीशन की बात लगी हुई है, वे भी बछड़ों के बीच में अपने को कुछ जताना तो चाहते हैं कि हम कैसे बलवान् हैं, मैंने उस बछड़े को कैसे मार भगाया? उन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन में भी यश, पोजीशन की तरंगे उठा करती है, नहीं तो गम न खाते। भैंसा भैंसा परस्पर में यदि लड़ जायें तो उनको बचाना बड़ा कठिन हो जाता है, यदि उनको बचाने जायें तो स्वयं को उनसे बचकर भागना पड़ता है। वे बड़े गुस्सैल जानवर हैं, तो उन जानवरों में भी शान, पोजीशन की बात पड़ी हुई है।

इस मंदिर के सामने कबूतर बैठते हैं। कोई कबूतर बैठा है, उसके पास कोई दूसरा कबूतर आ जाये तो चोंच मारकर, पंख मारकर उसे भगा देता है। बाद में वह कुछ हिलडुलकर अपने में बड़ा बड़प्पन महसूस करता है। इस शान और पोजीशन ने इस समस्त जीवलोक को बरबाद कर दिया है।

छोटे शिशुवों में भी शान का क्लेश- dksकोई छोटा बच्चा गोद में चढ़ा हो और उसे मां की गोद से उठाकर नीचे धर दे तो वह अपना मान भंग समझता है। बोलना भी नहीं जानता, है भी वह छोटासा छ: माह का बच्चा, मगर नीचे बैठा देने पर वह रोने लगता है। उसे कोई अच्छी चीज भी खिलावो, खिलौना भी दे दो,

पर उसका रोना बन्द नहीं होता। वह खिलौने के अभाव में नहीं रो रहा हैं, वह भूख के कारण नहीं रो रहा हैं, बल्कि मानभंग जो कर दिया गया, उसकी चोट से रो रहा है। उसे गोद में ले लो, अभी उसका रोना बन्द हो जायेगा। इस मान की कल्पना में पशु, पक्षी, मनुष्य सभी पड़े हुये हैं।

सर्वत्र मायाछाया- जितना यह सब असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, वह मायारूप है। परमार्थ तो वह है जो खाली जीव हो, खाली पुद्गल हो। जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में होने वाली यह जो अवस्था है, वह मायारूप है, पर मायारूपी मायारूप वालों में मायारूप पोजीशन रखना चाहते हैं, कुछ तत्त्व नहीं है। जैसे स्वप्न में कोई अपनी शान रखता हो तो उसकी शान बेकारसी है। है तो कुछ भी नहीं वहां। इसी प्रकार यहां पर भी कोई शान रखना चाहता हो तो बेकार की बात है। परमार्थभूत बात तो यहां कुछ भी नहीं है, पर कितना दु:ख हो गया, रात दिन कष्ट हैं। धनी सोचते होंगे कि गरीब सुखी हैं, गरीब सोचते होंगे कि धनी सुखी हैं, पर धनिकों को देखो तो वे भी दु:खी और गरीबों को देखो तो वे भी दु:खी। धनिक सोचते होंगे कि गरीबों को कोई चिंता नहीं है, सुखी हैं। गरीब सोचते हैं कि धनिकों के पास धन खूब है, सुखी हैं। परन्तु सुख का कारण धन नहीं है। यह अपने आपमें जो असंतोष का परिणाम है, उससे क्लेश हैं। परपदार्थों में ''यह मैं हूं'' इस प्रकार आत्मा का भ्रम होने से ये सब क्लेश हो गए हैं, किन्तु यदि मूल का आत्मभ्रम मिटे तो फिर वहां ये क्लेश हो ही नहीं सकते।

भ्रमविनाश में क्लेशविनाश- एक जंगल में स्याल स्यालनी थे। स्यालनी के गर्भ रह गया, सो भींत के समीप एक शेर के रहने के स्थान में बच्चे जन्माये। जब कोई डर की बात आये तो स्यालनी बच्चों को रुला देवे। स्याल पूछे कि बच्चे क्यों रोते हैं? स्यालनी ने कहा कि बच्चे शेर का मांस खाने को मांगते हैं। यह सुनकर शेर आदि कोई भी जानवर हो तो वह डरकर भाग जाये। इस प्रकार कितने ही शेर आये, पर यह सब सुनकर डरकर भाग जाते। सभी शेरों ने मिलकर गोष्ठी की कि वह जो ऊपर बैठा है, उसी की सारी बदमाशी है, उसने ही सबको परेशान कर रक्खा है। सब उसी भींत के पास आये। सोचा कि इसे कैसे मारें? सलाह हुई कि एक पर एक शेर चढ़ जाये और सबसे ऊपर वाला शेर उसे मार दे, यह ठीक है। नीचे कौन रहे? विचार हुआ कि यह जो लंगड़ा शेर है, वह ऊपर तो चढ़ नहीं सकता, सो उसे नीचे रक्खो और फिर एक के ऊपर एक चढ़कर उसे मारें। प्रबन्ध ऐसा ही हुआ।

परन्तु यह सब प्लान स्यालनी ने सुन लिया। जब शेर स्याल के पास पहुंचने वाले थे तो उस समय स्यालनी ने बच्चों को रुला दिया। स्याल ने पूछा कि ये बच्चे क्यों रोते हैं? स्यालनी ने कहा कि ये बच्चे इस लंगड़े शेर का मांस खाने को मांगते हैं। अब डर के मारे लंगड़ा शेर नीचे से खिसक गया। सभी शेर धड़धड़ करके गिर गये और भाग गये। फिर शेरों ने तो बिल्कुल हिम्मत नहीं की कि वहां चलें और मारें। यह आत्मभ्रम भी लंगड़ा है। इस आत्मभ्रम के कारण रागद्वेष, शोक, क्रोध, मान, तृष्णा आदि सारे ऐब खड़े हो गये, सारे क्लेश आ गये। यह भ्रम नीचे से खिसके तो कोई क्लेश इस जीव में नहीं रह सकता।

सुख का सरल उपाय- सुख का उपाय कितना सरल है? भूखे रहने की बात नहीं कही जा रही है, कुछ भी छोड़ने की बात नहीं कही जा रही है। कपड़े उतारो, ठण्ड में मरो- ऐसी बात अभी नहीं कही जा रही है, पर इतनी सी बात का अन्तर में निर्णय हो जाये कि मैं ज्ञान प्रकाशमात्र हूं और मेरे से अतिरिक्त बाहर मेरा कुछ नहीं है, मैं परिणमता हूं, अपने परिणमन से ही परिणमता हूं, दूसरे पदार्थ का मुझमें रंच प्रवेश नहीं है- यह बात सत्य है या नहीं? सत्य है, अब ऐसा विश्वास कर लीजिए, फिर तो मोक्ष जाने का प्रमाणपत्र आपको मिल चुका है। सम्यग्दृष्टि पुरुष निकट काल में ही सर्वसंकटों से मुक्त हो जायेगा।

हैरानी मेटने का उपाय- भैया ! शायद आप लोगों को होती होगी हैरानी कि मंदिर में आते हैं या प्रवचनसभा में आते हैं। वहां भी ठोकर लगती है वैराग्यभरी बातों की और दूकान में बैठते हैं तो वहां भी ठोकर लगती है ग्राहकों की और घर में जाते हैं तो वहां ठोकर लगती है स्त्री की या बहू की या बेटे बेटियों की कि अमुक चीज नहीं है। तो क्या करें? क्या हम ठोकर ही ठोकर खाने के लिये हैं? तो भाई हैरानी की कोई बात नहीं है। गृहस्थों को तो यों बताया है कि वे जल से जैसे कमल भिन्न है, उस तरह से घर गृहस्थी के बीच रहें। सबको एक तौल तौलोगे तो उलझन मालूम पड़ेगी। किन्तु जो चीज प्रमुख है उसको तो अन्तरंग में स्थान दिये रहो और जो बात प्रमुख नहीं है उससे ऊपर-ऊपर निपटते रहो तो कोई उलझन न मालूम पड़ेगी।

विविक्तत्व की साधना- जल में कमल रहता है, जल में ही उत्पन्न होता है, जल में ही उसकी डंडी है लेकिन जल से वह थोड़ा हाथ डेढ़ ऊपर उठा है, जल को छुवे हुए भी नहीं है, यों ही यह गृहस्थ इस घर में ही पैदा होता है, घर में ही रह रहा है, फिर भी घर से इसका उपयोग बिल्कुल अलग बना रहा करता है। यह सब ज्ञानी संत गृहस्थ की बात है, अथवा कमल का पत्र बहुत चिकना होता है, वह पानी के भीतर भी पड़ा हुआ है और कोई मनुष्य उसके पत्ते को पानी के भीतर डूबा दे तिस पर भी पत्र में पानी का प्रवेश नहीं होता। जैसे आम का पत्ता, महुवा का पत्ता ये पानी में छू जायें तो भी कुछ देर तक इन पर पानी झलकता है, चिपका रहता है किन्तु कमलपत्र पर पानी इस तरह से ढलकता है जैसे कि पारा किसी जगह ढलकता रहता है। जल में रहता हुआ भी जल से भिन्न कमल है और कमलपत्र है। इसी तरह जिसने अपने आपमें इस कारण समयसार सहजस्वभावी आत्मतत्त्व का दर्शन किया है ऐसा पुरुष बाह्यपदार्थों में रमता नहीं है। वह अपने आपके व्रत की साधना में रहता है।

आनन्द और क्लेश पाने की पद्धति- आत्मा के भ्रम से उत्पन्न हुआ दु:ख आत्मज्ञान से ही शांत हो सकता है। यहां ऐसे शास्त्र के उपदेश में चोटें नहीं लगती किन्तु विश्राम मिल रहा है, शांति मिलती है, अनाकुलता जगती है। मोह ममता की वृत्ति जहां नहीं रहती है वहां ही आनन्द हुआ करता है। तो एक आत्मज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। जो पुरुष इस आत्मज्ञान में प्रयत्न नहीं करते हैं वे दुर्धर तप भी तप लें फिर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होते। जिस बात की जो पद्धति है वह बात उसी पद्धति से होती है। एक किसी पुरुष ने एक देवता की आराधना की। देवता प्रसन्न होकर कहता है कि मांग लो जो मांगते हो। वह बोला महाराज मेरे एक भी पुत्र नहीं है सो एक पुत्र हो जाय। अच्छा ऐसा ही होगा। अब वह पुरुष घर आया।

सोचा देवता ने कह तो दिया है कि पुत्र होगा। तो अब अपन क्यों पाप करें? क्यों मन मलिन करें? सो वह ब्रह्मचर्य से रहने लगा। दो चार वर्ष इसी तरह हो गये। आखिर पुत्र न हुआ तो वह देवता से उलाहना देने फिर आया। आपने पुत्र होने को कहा था क्या न होगा? तब देवता कहता है, अरे संसार की बात संसार के ढंग से है, मुक्ति की बात मुक्ति के ढंग से है।

संसार पद्धति व मुक्तिलाभ की रीति- कोई रत्नत्रय का पालन करके चाहे कि मैं संसार में भटक लूँ तो कैसे भटक सकता है? कोई मिथ्यात्व की वासना में रहकर चाहे कि मैं कर्मों से मुक्ति पा जाऊँ तो यह कैसे हो सकता है? संक्लेश पाना हो तो उसका उपाय है कि भ्रम किये जावो। और शांति चाहते हो तो उसका उपाय है कि सबसे विविक्त ज्ञानमात्र अपने आत्मा के परिचय में रहो। जो भावे सो करो। किन्तु तत्त्व यह ऐसा ही है कि जितना क्लेश है वह सब आत्मा के भ्रम से है।

विशदपरिज्ञान का उपाय अनुभव- भैया ! और विशेष बात क्या कहा जाय, यह तो आत्मतत्त्व की बात है- खाने पीने की बात भी हम क्या कोई भी किसी को समझा नहीं सकता। कोई बता ही दे, समझा ही देवे कि मिश्री कैसी मीठी होती है? कोई कहे कि मिश्री मीठी होती है। जिसने मिश्री कभी चखा ही न हो वह इसका अर्थ ही नहीं जान सकता है। युक्ति भी बताई जावे कि देखो तुमने कभी गन्ना चूसा है ना? हां हां बड़ा मीठा होता है। तो जितना मीठा गन्ने का रस होता है उससे कई गुणा मीठा निकला हुआ रस होता है। जितना मीठा रस होता है उससे कई गुणा पकाया हुआ रस (राब) होता है और जितना मीठा राब होता है उससे कई गुणा मीठा गुड़ होता है, क्योंकि घन बनता जा रहा है। जितना मीठा गुड़ होता है उससे कई गुणी मीठी शक्कर होती है, क्योंकि उस गुड़ का मैल निकलने पर शक्कर हुई और जितनी मीठी शक्कर होती है उससे कई गुणी मीठी मिश्री होती है, क्योंकि शक्कर में से भी मल निकल गया तब मिश्री बनी। अब समझे कि मिश्री कितनी मीठी होती है? वह तो कह रहा है कि हम नहीं समझे अभी तक। अरे तो मिश्री की डली मुख पर धर दो तो झट समझ जायेगा कि कैसी मीठी मिश्री होती है?

आत्मतत्त्व के विशदप्रकाश का उपाय आत्मानुभव- इसी प्रकार इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव अनन्त आनन्द प्रदान करने वाला अनुभव होता है। समझे? नहीं, अभी तो नहीं समझे। देखो जितने देव हैं, जितने इन्द्र हैं, जितने चक्रवर्ती हैं, जितने राजा महाराजा हैं, जितने भूतकाल में हो गये हैं और जितने भविष्यकाल में होंगे वे सब जितने सुख भोगते हैं, उन सब सुखों को एकत्रित कर लिया जावे, उनसे भी अनन्तगुणा आनन्द एक निज ज्ञानस्वरूप के अनुभव में होता है। समझे? नहीं अभी तो नहीं समझ पाये। तो समझाना किसी दूसरे के वश का नहीं है। खुद ही इतना विवेक रक्खा करें कि जगत् के समस्त बाह्यपदार्थ भिन्न हैं, उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है, न सुख होता है। सभी स्वतंत्र हैं, अपना-अपना परिणमन करते हैं। इतना सा ही विश्वास करके इतनी हिम्मत बना लीजिए कि बाहर कहीं कुछ हो, मैं किसी को भी अपने उपयोग में स्थान न दूंगा। किसी का ख्याल आता हो उस ख्याल को झट दूर करें। किसी का मुझे ख्याल आता हो तो उससे मुझे मिलेगा क्या? ये तो सर्व परद्रव्य ही हैं। कोई अपने उपयोग में किसी भी बाह्यपदार्थ को न आने दे, एक इस बात पर ही अड़ जाय। कोई पदार्थ इसके ख्याल में न आये, ऐसी स्थिति यदि बन सकती है तो

स्वत: ही अपने आपमें उस ज्ञानस्वरूप की झलक होगी और वह खुद उस ज्ञानानुभव का आनन्द पा लेगा। फिर दूसरे से पूछने की जरूरत भी नहीं है।

ज्ञान के अभ्युदय में आनन्द का विकास- भैया ! ज्ञानस्वरूप ज्ञानानन्द को प्रकट करता हुआ ही उत्पन्न होता है। एक कहीं उदाहरण दिया है कि एक बहू थी, उसके गर्भ था। बच्चा होने का समय था, सो वह बहू अपनी सास से कहती है कि सासू जी मैं सोने जा रही हूं, बच्चा हो जाय तो मुझे जगा लेना, कहीं ऐसा न हो कि बच्चा हो जाय मुझे पता ही न पड़े। तो सास कहती है अरे बच्चा उत्पन्न होगा तो तुझे जगाता हुआ ही उत्पन्न होगा। यों ही यह ज्ञान का अनुभव जब उदित होगा तो उस अनन्तआनन्द को जगाता हुआ ही उदित होगा। फिर पूछने की जरूरत नहीं है कि मैंने ज्ञान का अनुभव किया या नहीं किया, मुझे आनन्द आया या नहीं आया। ज्ञान और आनन्द का बड़ा मैत्री भाव है। आनन्द के बिना ज्ञान का विलास नहीं और ज्ञान के बिना आनन्द का विलास नहीं।

अज्ञानचेष्टा व ज्ञानकला का प्रताप- जो रागद्वेष ममता से भरी हुई कल्पनाएँ है उन्हें ज्ञान नहीं कहा करते हैं वे सब अज्ञान की चेष्टाएँ हैं। जो ज्ञान निज के स्वरूप को जाना करे, ऐसे ज्ञान की वृत्ति का नाम ही परमार्थत: ज्ञान परिणमन है। ऐसा आत्मज्ञान जिसके जगा तो नहीं है किन्तु मैं साधु हूं, मैं मुनि हूं, मैं व्रती हूं, मुझे ऐसा तप तपना चाहिए, मुझे ऐसा करना चाहिए, ऐसी वृत्ति रखता हो और अनुभव के अनुसार न चलता हो ऐसा ज्ञानहीन पुरुष तप तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। हंस को कौन सिखाने आता है कि तू ऐसी चाल चल। इसी प्रकार इस ज्ञानी पुरुष को कौन सिखाने आता है कि तू ऐसी चेष्टा कर। ज्ञान के होने पर मन, वचन, काय कैसे चलना चाहिए? यह स्वभावत: उसके कला प्रकट हो जाती है।

ज्ञानकला पर योग्यवृत्ति का स्वत: श्रृंगार- एक राजा मर गया। राज्य रानी को दे दिया गया। उसका पुत्र छोटा था। वह राजपुत्र जब बड़ा हुआ तो उसकी मां ने सोचा कि अब राज्य का कार्यभार पुत्र को सौंप देना चाहिये। मां ने अपने पुत्र को दसों बातें सीखा दी कि बेटा ! राजदरबार में यदि ऐसा पूछा जाये तो ऐसा उत्तर देना, ऐसा पूछा जाये तो ऐसा उत्तर देना। राजकुमार बोला कि मां ! इनमें से यदि एक भी प्रश्न न पूछा गया तो क्या उत्तर दूंगा? मां ने कहा कि बेटा ! अब तू जरूर किसी भी प्रश्न का उत्तर दे लेगा। जब तेरे में यह समझ है कि यदि इनमें से एक भी प्रश्न न पूछा गया तो क्या उत्तर दूंगा? तो तू जरूर उत्तर दे लेगा। राजपुत्र को राज दरबार में बुलाया गया। बादशाह ने पूछा कुछ भी नहीं, किन्तु दोनों हाथ उस राजकुमार के पकड़ लिये और बोला अब तू क्या करेगा? राजपुत्र बोला कि महाराज ! अब तो मैं पूर्ण रक्षित हो गया। शादी में पति पत्नी का केवल एक हाथ पकड़ लेता है तो उस पति को उस पत्नी की सारे जीवनभर रक्षा करनी पड़ती है। आपने तो हमारे दोनों ही हाथ पकड़ लिये, फिर मेरी तो पूर्णरूपेण रक्षा हो गई। राजपुत्र के इस मर्म भरे उत्तर को सुनकर बादशाह प्रसन्न हुआ और उसको राज्यभार सौंप दिया। तो ऐसे ही जब इस आत्मज्ञान की कला प्रकट हो जाती है, तब योग्यवृत्तियां स्वयं हो जाती हैं। आत्मज्ञान का कितना महत्त्व है? हमारे आपके लिये यह आत्मज्ञान ही हितकर है।

श्लोक 42

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।

उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देह तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ।।42।।

अज्ञानी की पहुंच- अज्ञानी जीव अर्थात् जिसको शरीर में यह मैं हूं- ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई है वह बड़े घोर तप को भी करता है तो भी चूंकि उसके शुद्ध ज्ञानविकासमात्र मोक्षतत्त्व में प्रतीक्षा नहीं है- इस कारण सभी शरीरों को, दिव्यभोगों को चाहता है। धर्म करके, तप करके, व्रत आदिक करके मेरी पहुंच देवगति में उत्पन्न होगी, इन्द्र बनेंगे और दिव्यभोग मिलेंगे, यहां तक ही अज्ञानी की पहुंच हुआ करती है।

अज्ञान तप में बैकुण्ठ के सुख का आशय- ऊर्ध्वलोक में सबसे ऊँचे स्थान में जहां तक कि मिथ्यादृष्टि जीव भी जा सकता है, तपस्या करके वह स्थान है बैकुण्ठ। बैकुण्ठ कहो या अपभ्रंश में बैकुण्ठ कहो, ग्रैवेयक कहो। ग्रैवेयक भी बैकुण्ठ का ही नाम है। बैकुण्ठ का भी अर्थ कण्ठ का स्थान है और ग्रैवेयक का भी अर्थ कण्ठ का स्थान है। तीनों लोकों की रचना में ग्रैवेयक कण्ठ के स्थान पर पड़े हैं। जहां कण्ठ का स्थान है, वहां ग्रैवेयक का स्थान भी है।

मिथ्यादृष्टि जीव भी तपस्या करके ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होता है, वहां शुभ शरीर है, वैक्रयिक शरीर है। जहां हाड़मांस, मज्जा, धातु उपधातु नहीं हैं, जहां कभी पसीना नहीं आता, बदबू नहीं आती- ऐसे वैक्रियक शरीर हैं। जिस शरीर से अनेक शरीर रचनाएँ कर लें- ऐसे शुभ शरीर हैं और भोग भी दिव्य हैं। जहां तक याने ग्रैवेयक से नीचे कल्प तक देवांगनावों का संसर्ग है, वहां तक दिव्यभोग है और उससे ऊपर मानसिक, शारीरिक उपभोग है। उनको ये अज्ञानीजन तपस्या करके चाहते हैं।

पूंजी से बहुत कम मांग की पूर्ति- जैसे किसी के पास धन बहुत है, कोई लखपति है और वह किसी से 100 रुपये उधार मांगे तो जो चाहे दे देता है। हैसियत से अधिक कोई उधार चाहे तो उसे कैसे मिलेगा? इसी प्रकार तपस्या करके जिसने परिणाम विशुद्धि अधिक की है, पुण्य बांधा है, उससे कम निदान बांधे तो जल्दी मिल जाता है। जैसे कोई साधु तपस्या करके मांगे कि अमुक सेठ का पुत्र होऊँ तो तप करने के फल में उसके मांगने की पूर्ति हो जाती है। कहीं ऐसा नहीं है कि जो मांगे, सो मिल जाये। गांठ में अधिक पुण्य हो और थोड़ी चीज मांगे तो उसे वह चीज मिल ही जायेगी। पुण्य तो विशेष नहीं है और मांगे अधिक बात तो कहां से मिल सकेगी।

अज्ञानी और ज्ञानी की आकांक्षा- अज्ञानी जीव तपस्या करके इन चीजों को चाहता है, जब कि तत्त्वज्ञानी जीव इन सब झंझटों से छुटकारा चाहता है। चारों गतियों में से कोई भी गति मेरे न रहे। सर्व

इन्द्रियजातियों में से कोई भी इन्द्रियजाति मेरी न रहे। कोई काय, योग, वेद, कषाय मेरे न रहें। तत्त्वज्ञानी जीव इन सब झंझटों से अपना अलगाव ही चाहता है। जब तक सहज ज्ञानस्वरूप निजआत्मप्रकाश का अवलोकन नहीं होता है, तब तक यथार्थ उद्देश्य बन ही नहीं सकता। इस निज कारणसमयसार के परिचय बिना यह कुछ चाहेगा तो क्या चाहेगा? इन्हीं सब लौकिक सुखों को। लौकिक सुखों में कोई सुख ऐसा नहीं है कि जो इस जीव के शान्ति का कारण हो।

जिस किसी से राग हो, वह यदि बहुत सुभग है, प्रिय है तो जितना अधिक वह प्रिय होगा, राग का बन्धन, राग का क्लेश उतना ही अधिक होगा। जिन लोगों के वैभव सम्पदा, परिजन, कुटुम्ब, इज्जत, पोजीशन- ये सारी चीजें हैं, उनको कितनी बड़ी बड़ी

विपत्तियां हैं, ये तो वही जान सकते हैं।

ज्ञानी के अहित से बचाव का यत्न- और भी देखो भैया ! जैसे कोई विडम्बना हो जाने पर यह पुरुष उससे बचना चाहता है, प्रभु से मनोती भी मनाता है, कुछ धर्मध्यान में जी चाहता है- ऐसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष समृद्धि मिलने पर, प्रशंसा मिलने पर, हर प्रकार के लोक सम्मान मिलने पर यह उन्हें विपदा समझकर उनसे बचना चाहता है और नि:संग आत्मतत्त्व की शरण में आना चाहता है। दृष्टिभेद का सारा प्रताप है। कितने ही पुरुष, कितने ही साधुजन बड़ी ऊँची साधना करने के बाद भी रागद्वेष आ जाये तो ऐसा बंध बांधते है कि मैं अमुक का बैरी बनकर इसका घात करूँ, अपनी उतनी बड़ी साधना को यों ही खो देते हैं।

हमारी आपकी साधना- हम और आप भी धर्म के लिये जितना जो कुछ करते हैं, वह सब एक साधना है। उस साधना में हमारी कषायें मन्द हों और उस साधना के एवज में हम दूसरों का कुछ न चाहें- ये दो बातें रहें तो हमारी यह धर्मसाधना है। पूजा करना, सामायिक करना, स्वाध्याय करना आदिक जो कुछ भी धर्मसाधना किया करते हैं, वह लाभदायक है। इस धर्मसाधना को करके कुछ भी चाह करना-यह बिल्कुल ही बेकार है। जैसे कोई इसलिये दर्शन करे, पूजा करे कि लोग समझे कि हां यह भी धर्मात्मा हैं। यदि इस उद्देश्य को रखकर श्रम किया तो जो उद्देश्य बनाया है, जो संस्कार बनाये हैं, वे ही तो उसके अन्दर चलें, फिर तो उसे पुण्य का बन्ध नहीं होता है। मौन से स्तवन करने में, पूजन करने में इस दोष का प्रसंग नहीं आ पाता है। जैसे कि मानों बोलकर स्तवन कर रहे हों तो अभी अकेले ही थे, जल्दी जल्दी जैसा चाहे बोल रहे थे, अब आ गये दो चार बाबू लोग, सेठ लोग तो उनको देखकर बहुत संभालकर बोलने लगे, धीरे धीरे राग से बोलने लगे तो उसने प्रभु की पूजा को छोड़ दिया और बाबूजी की, सेठजी की पूजा शुरू कर दी, क्योंकि उन लोगों को अपने को अच्छा बताने की चेष्टा हो रही है।

मौन की प्रयोजकता- भैया ! सात स्थानों में जो मौन बताया गया है, उस मौन का बहुत मार्मिक प्रयोजन है। पूजा करने में भी मौन बताया है। कल्पना करो कि गिरजा जैसा रिवाज अपने मंदिरों में भी होता कि बेदी में पैर रक्खा तो सब के सब मौन से मन्दिर में आयें, मौन से दर्शन करें, मौन से पूजन करें तो चाहे दसों बीसों पुरुष भी दर्शन, पूजन कर रहे हों तो किसी से किसी दूसरे को बाधा नहीं आ सकती। दूसरे उन

पूजा करने वालों का भी यह भला होगा कि दर्शकों को देखकर मन में कोई मायाचार की बात न आ सकेगी कि अब संभालकर बोलने लगें तो उनमें भी कितने ही गुण हैं। अन्य स्थानों में भी मौन रक्खा है, सर्वत्र मौन में धर्मोन्मुखी मर्म है।

अज्ञानी का उद्देश्य व रमण- तपस्या करके, साधना करके कुछ बाहरी बातों की चाह कर लेना यह इस जीव के अकल्याण के लिए है। यह अज्ञानी जीव घोर तप करके भी शुभ शरीर और दिव्य भोगों को चाहता है। यह तो परलोक के चाहने की बात हुई, किन्तु आजकल बहुत से संन्यासी जन कांटों पर पड़कर, औंधे लटककर कैसी ही तपस्या करके केवल यह चाहते हैं कि लोग 2-4 पैसे धर जायें, फेंक जायें। उन्होंने इस लोक के वैभव की चाह में ही अपने तप और श्रम में साधना को समाप्त कर दिया। क्या करें अज्ञानी जीव? ज्ञानी जिसमें रमते हैं उसका तो पता नहीं और रमने का स्वभाव इस आत्मा में पड़ा हुआ ही है। कोई जीव किसी बात में रमे बिना न रह सके ऐसा हो सकता नहीं है। अपना पता हो तो अपने में रम ले, न अपने का पता हो तो किसी परविषय में रमेगा, किन्तु रमने की प्रकृति कैसे छूटेगी? इस ज्ञानी जीव को यदि आत्मस्वभाव का परिचय नहीं है तो रम नहीं सकता। अब बाहर में दृष्टि है तो बाहर ही बाहर रमेगा। उस अज्ञानी को बाहर में ही सारा सार दिखता है।

अटपट तमाशा- पहिले ऐसे सिनेमें आते थे जो बोलते न थे, केवल चित्र ही पर्दे पर आते थे। देख तो लो मगर कुछ अटपटासा लगता था। ओंठ तो चल रहे हैं लगता है कि एक दूसरे से बोल रहे हैं, मगर उसमें कुछ तो ऐसा लगता था कि यह तो कुछ खेलसा हो रहा है, कुछ अटपटासा काम हो रहा है। यों ही ज्ञानी पुरुष को यह सारा दृश्य अटपटासा दिखता है। कोई किसी को कुछ कहता ही नहीं है। जो कोई कुछ यत्न करता है या अपनी चेष्टा करता है वह अपने में ही करता है। कोई किसी में कुछ कर ही नहीं सकता। कोई किसी अन्य से राग कर ही नहीं सकता। सब अपनी-अपनी ढपली बजाते हैं, अपना-अपना ही विकार किया करते हैं। जैसे उस सिनेमा के चित्र में यह साफ दिख रहा है कि यह इससे कुछ कह ही नहीं रहा जो न बोलता हुआ सिनेमा हो। जैसा उसमें लगता है ऐसा ही इस संसार के सिनेमा में ज्ञानी को यों ज्ञात हो जाता है कि यों ही सब हो रहा है। कोई किसी का कुछ करता ही नहीं है। सब अपनी-अपनी चेष्टा करके समाप्त हो जाते हैं। ये सब उसे असार नजर आते हैं, फिर इनकी चाह ज्ञानी कैसे करे? तत्त्वज्ञानी जीव तो उन सब साधनों से, विषयों से छुटकारा चाहता है।

मनचाही बात की तुरंत सिद्धि का अभाव- भैया ! और भी विचारो क्या मनचाही बात यहां किसकी हो सकती है? लोक में ऐसा कोई पुण्य नहीं है, ऐसा कोई पुण्यवान् नहीं है जो मनचाही बात बोले और तुरन्त सिद्ध हो जाय। बड़े दृष्टान्त देंगे चक्रियों के और तीर्थंकरों के, उनका पुण्य इतना विशाल है कि जो उनकी चाह हुई तुरन्त पूर्ति हो जाती है, पर वहां भी ऐसा नहीं है। सिद्धान्त देखो- मनचाही बात तुरन्त पूरी हो जाय ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। पूरी हो जाय, इतना अंश अभी अलग रक्खो। तुरन्त मनचाही बात हो जाय यह कहीं भी नहीं हो सकता। मन में चाहा कब और बाहर में परिणमन हुआ कब- इन दो बातों में बहुत अन्तर काल पड़ा हुआ है। जैसे आपकी मनचाही बात तीन घंटे में बन जाय तो आप कहते हैं कि मेरी

मनचाही बात तुरन्त हो गयी। किसी की घंटा भर में हुई तो वह भी तुरन्त शब्द कहता है। किसी की 10 मिनट में हो जाय तो वह भी तुरन्त शब्द कहता है, पर यह बात है क्या? इसमें तो इतना अन्तर पड़ा हुआ है और जिसके सेकेण्ड में भी हो जाय उसके भी तुरन्त नहीं है। वेद्यभाव और वेदकभाव यह उभय एक समय में नहीं होता है एक ही विषय में जब चाहा तब बात नहीं, जब बात है तब चाह नहीं। आपने चाहा कि आज 100) की आय हो तो जिस समय यह चाह है क्या उस समय 100) की आय हुई? नहीं हुई। होती, तो इस प्रकार की चाह का ढांचा ही नहीं बन सकता, तो मनचाही बात तुरन्त हो जाय, ऐसा पुण्य होता ही नहीं है।

समस्त मनचाही बात का अभाव- अब दूसरी बात देखो- मोटे रूप में ऐसा सोच सकते हैं कि हम जो चाहते हैं वह पूरा होता है। दिन भर में आपकी चाहें तो लाखों हो जाती होंगी। 24 घंटे में लाखों चाहें हो जाती हैं। कुछ तो आपकी पकड़ में आती हैं व कुछ हो जाती हैं और कुछ झक मारकर यों ही खिर जाती हैं। लाखों चाह होती हैं, कौन-कौनसी चाह पूरी हो। लेकिन यह अज्ञानी जीव चाह करता है और तपस्या करके भी लौकिक सुखों की चाह करता है।

ज्ञानी का अन्त:प्रसाद व बाह्यपरिहार- जिसने निज ज्ञानस्वरूप के अनुभव का आनन्द पाया है वह संसार के सर्व सुखों को हेय समझता है। यह सब कुछ सार नहीं है। जैसे जिस लड़के को नींद आ रही है और जमीन पर सोया हुआ है और उस लड़के का बाप मानों शास्त्र सुनने बैठा है। शास्त्र समाप्त होने के बाद घर जायेगा ना, तो वह लड़के को उठाता है चल रे। तो वह उसी नींद में एक दो थप्पड़ मार देता है- कहेगा कि हमको तो यही अच्छा लगता है, हमको नहीं जाना है। यह तो उसकी नींद की बात है, किन्तु जिस ज्ञानी को अपने ज्ञानसुधारस के पान के अनुभव का आनन्द आया है, ऐसे ज्ञानी को कर्मोदय की प्रेरणावश जाना भी पड़े घर में, दुकान में, लोगों में तो वह पसंद नहीं करता। हमको नहीं जाना है, बचना चाहता है, किन्तु अज्ञानी जीव चाह-चाह करके इन पौद्गलिक वैभवों में, इन मायारूपों में अपने को लगाया करता है।

बिना हुमस का फेर- अहो, अन्तरंग में ही थोड़ी उन्मुखता और विमुखता के जरा से फेर में इतना बड़ा अन्तर आ जाता है कि एक तो संसार में रुलने का विस्तार बनाया करता है और एक अपने आपमें विश्रांत होने का यत्न किया करता है। उपयोग तो यही है और यह उपयोग आत्मप्रदेश से बाहर भी नहीं जाता, किन्तु अपनी ओर उन्मुख रहे जिसे कहते हैं निशाना लगाना यह उपयोग अपनी ओर निशाना लगाये तो इसकी मुक्ति का मार्ग बनता है और अपने से बाहर की ओर निशाना लगाये तो यह संसार में रुला करता है। भीतर ही एक उपयोग पेंच को भिन्न-भिन्न दिशा के अभिमुख किये जाने का यह सारा विस्तार है कि वह संसार में रुलेगा या मुक्ति के निकट होगा। यह जीव केवल परिणाम ही कर सकता है, किसी परपदार्थ में कुछ परिणमन नहीं कर सकता है। केवल परिणामों से ही अपनी सारी चेष्टाएँ बनाया करता है और इतना ही नहीं यह बाह्य ढांचा, पौद्गलिक शरीर, ऐसे बंधन, ये सारे ऐब भी आ जाते हैं केवल एकभाव के करने पर। यहां उपयोग प्रदेशमात्र भी हुमसा नहीं है, फिर भी यह फेर हो जाता है।

चेतन प्रभु के विभाव से असमानजातीयद्रव्यपर्याय की सृष्टि- कैसे बन जाता है यह शरीर? कैसे बन जायेगा यह मनुष्य? कभी मनुष्य बना है, कुछ समय बाद गाय, बैल बन जाय, कुछ समय बाद सांप बिच्छू बन जाय तो अचरज होता है कि आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दस्वभावमात्र यह आत्मा क्षण में ही क्या से क्या बन गया, कैसे बन गया? यह तो केवल भाव ही करता है। इसने भाव ही किया। अब निमित्तनैमित्तिक पद्धति में जो कुछ होने को है वह हो ही लेगा।

दृष्टान्तपूर्वक सृष्टि में विभाव की निमित्तकारणता की सिद्धि- जैसे बारातों में फटाका अनार आदि छोड़े जाते हैं तो वे तैयार किये हुए लाये जाते हैं। वहां तो केवल थोड़ी किसी जगह आग छुवा दी, फिर कैसे दगेगा वह, कैसा उसका विस्तार होगा अब सारी बातों में इस पुरुष की क्या करतूत है? कुछ नहीं। यह तो आग छुवा कर अलग हो गया, अब जो होना है निमित्त-नैमित्तिक पद्धति से स्वयमेव हो जाता है। छूट गया फटाका आकाश में चला गया, रंग बिरंगे आग की कणों में फैल गया। जो हो, उसमें अब यह पुरुष क्या करे? वह हो गया। ऐसे ही जानों कि इस जीव ने तो एक परिणाम भर बनाया, किसी भी प्रकार का परिणाम करे। अब परिणाम होने के बाद स्वत: ही जैसा निमित्तनैमित्तिक पद्धति में राग है, कर्म बन्ध हुआ, उदय हुआ, आहारवर्गणा हुई, उसके अनुसार शरीर बना, रूपक बन गया।

कैसा हो गया यह जीव पेड़ों के रूप में, कीड़ों के रूप में, मनुष्यों की शकल में, भिन्न भिन्न प्रकार से कैसे हो गया? सब जानवरों के अजायबघर में जावो तो कैसे विभिन्न जानवर मिलते हैं? जिनको कभी देखा न हो। कैसे बन गए ये सब मायारूप? बन गए। इसमें कारण है जीव का परिणाम। जीव परिणामभर करता है और उस परिणाम के फल में स्वयमेव ये सब मायारूप बन रहे हैं।

अज्ञानी और ज्ञानी की चेष्टावों के प्रयोजन- ये अज्ञानी जीव घोर तप करके भी शुभ शरीर और दिव्यविषयों की चाह करते हैं। जैसे आजकल भी बहुत से लोग ऐसे हैं कि जिनसे पूछो कि काहे के लिये तुम इतने व्रत करते हो, तपस्या करते हो? तो उत्तर मिलेगा कि अच्छी गति मिलेगी, देव बनेंगे, इन शब्दों में कहने वाले आज भी मौजूद हैं। ऐसे बहुत कम बिरले पुरुष होंगे, जिनसे पूछो कि भाई किस लिये तुम तप करते हो, व्रत करते हो, साधना करते हो? समाधान में यह उत्तर मिले कि मैं ज्ञानमात्र हूं- ऐसा ही अनुभव करना है, इसके लिये ये सब काम किये गए हैं। धर्म के जितने भी कार्य हैं, उन सब कार्यों का प्रयोजन परमार्थत: यह है कि यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान करता हुआ ही बना रह सके। इससे आगे मुझे और कुछ नहीं चाहना है और भी बहुत सूक्ष्मदृष्टि से पूछो उनसे कि क्यों जी, तुम आत्मस्वरूप को किसलिए जानना चाहते हो? तत्त्वज्ञानी पुरुष का यह उत्तर मिलेगा कि हम तो इस आत्मस्वरूप को जानते रहने के लिए ही जानना चाहते हैं, देवगति मिले- यह उत्तर उसका न होगा, मोक्ष का सुख मिले, यह उत्तर उसका न होगा, किन्तु जो यथार्थतत्त्व है, वह यथार्थतत्त्व जानने में बना रहे, इतने ही प्रयोजन के लिए हम इसे जानना चाह रहे हैं।

कर्तव्यसूचना- यों यह तत्त्वज्ञानी जीव उन सब परभावों से अलग होना चाहता है, जिन परभावों की चाह यह देहात्मबुद्धि प्राणी अज्ञानी किया करता है। इस प्रकरण में जो अज्ञानी के प्रसंग की बात हो, यों समझना उसे हेय है। जो ज्ञानी के प्रसंग की बात है, वह उपादेय है, यों समझना। तपश्चरण के द्वारा इन्द्रिय और कषायों पर विजय पाकर अपने ध्येय की सिद्धि करना चाहिए, न कि बाह्यपरिग्रहों के संयोग की इच्छा में ही डूबना चाहिए।

श्लोक 43

परत्राहम्मति: स्वस्माच्च्युतो बघ्नात्यसंशयम्।

स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुध:।।43।।

मुक्ति की उत्सुकता की प्रकृति- इस श्लोक में यह बताया गया है कि कौन जीव बँधता है और कौन जीव छूट जाता है। बंधन सबसे कठिन विपदा है व छूटा हुवा होना सबसे विलक्षण सम्पदा है। कर्मों से छूटा होना, संसार के संकटों से छूट मिलना, इसका नाम है मोक्ष। कभी देखा होगा कि स्कूल में टाइम पर या टाइम से पहिले जब मास्टर कह देवे जावो छुट्टी है तो लड़कों को कितना आनन्द आता है, सारा स्कूल गूंज जाता है। उन लड़कों के हाथ पैर कहीं के कहीं पड़ रहे हैं, एकदम भाग दौड़ मचाकर आते हैं। उनसे पूछो कि तुमको यह खुशी किस बात की है? कोई मिठाई मिली है या और कोई इनाम मिला है? मिला कुछ नहीं, पर छुट्टी होने से स्वयमेव आनन्द आता है।

बछड़ा बन्धा हो खूँटे से, वह गिरमा को खींचकर भागना चाहता है, उसमें वह कष्ट मानता है। जिस समय उसका बन्धन खोल दिया जाए तो कैसा वह उचक कर भागता है? छुट्टी मिलने में बड़ा आनन्द है, आप ही अन्दाज कर लो सुबह के समय, यद्यपि पढ़ाई आप लोग मन से करते हैं, पर जब ये कह देते हैं कि आज की छुट्टी तो भीतर में कुछ खुशी होती है कि नहीं? हालांकि जानते हो कि 9 बजे बाद चले जायेंगे, मगर उस छुट्टी के शब्द को सुनते ही कुछ फर्क आ जाता है।

दुर्लभ अवसर न चूकने की स्मृति- कर्म का बन्धन, शरीर का बन्धन अनादिकाल से भोगा जा रहा है। कैसा भवितव्य होगा, वह कब भवितव्य होगा कि इस जीव का अनादिकालीन भी संकट छूट जाएगा? उस मुक्ति से बढ़कर और क्या वैभव होगा? यह जीव निगोद से निकलकर, अन्य स्थावरों से निकलकर विकलत्रय अर्थात् दोइन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीव रहा। इन तीनों से निकलकर, पन्चेन्द्रिय में से अन्य खोटे भवों से ही निकलकर आज यह मनुष्य हुआ है, पर मनुष्य होकर विषयवासनावों में बेसुध होकर जीवन गँवाये तो मनुष्य होने का लाभ क्या हुआ?

विषयानुराग के खेल से क्षति- एक सेठ जी थे। वे राजा के बड़े ही प्रिय थे। पापोदयवश सेठ निर्धन हो गया। जब बहुत ही कठिन मुसीबत आयी तो सेठ कहता है कि राजन्, अब तो दिन मुश्किल से गुजरते हैं। राजा ने कहा कि अच्छा कल के दिन तुम्हें दो बजे से चार बजे तक की आज्ञा देता हूं कि रत्न जवाहरात के खजाने में जावो और जितने रत्न जवाहरात तुम ला सको, उतने ले आना। खजांची को भी आदेश दे दिया कि अमुक सेठ दो बजे आएगा और जितने रत्न जवाहरात दो घण्टे में ले जा सके, उसे ले जाने देना। वह पहुंचा दूसरे दिन दो बजे रत्न जवाहरातों के भण्डार में। तो वे कुछ सीधे ही एक कोठरी में नहीं होते। कोई विशाल किला हो, महल हो, फिर किसी जगह अन्दर भण्डार होता है। वहां जाकर देखा तो खेल खिलौने बहुत अच्छे थे। उन सुन्दर खिलौनों को वह देखने लगा। उनको देखते देखते ही 2 घण्टे का समय व्यतीत हो गया। चार बजे खजांची ने कह दिया कि जावो समय हो गया।

लौकिक शौर्य के मद से क्षति- अब रोता हुआ सेठ राजा के पास फिर पहुंचा और कहा कि कल के दो घण्टे तो हमारे खिलौने देखने में ही व्यतीत हो गये। राजा ने कहा कि अच्छा आज दो बजे से चार बजे तक के लिए तुम्हें इजाजत देता हूं कि तुम सोने के भण्डार में जावो और जितना सोना ला सको, ले आना। खजांची को भी राजा ने आदेश दे दिया। अब वह सेठ दो बजे पहुंचा तो देखता है कि बहुत बड़ा महल है और आसपास बहुत सुन्दर छोटे छोटे घोड़े बँधे हुए है। देखने में बड़े सुन्दर थे। उस सेठ को घोड़े पर चढ़ने का बड़ा शौक था। वह झट एक घोड़े को पकड़कर उस पर चढ़ गया व उसे चलाने लगा। यों कभी किसी घोड़े के पास, कभी किसी घोड़े के पास गया। घोड़ों को देखते देखते ही उसके दो घण्टे व्यतीत हो गए। अब फिर खजांची ने समय पूरा होने पर उस सेठ को निकाल दिया।

कामादिविकार व चिन्ताओं की उलझन से क्षति- फिर सेठ राजा के पास पहुंचा और बोला कि महाराज, क्या बतलाएँ, हमारा उदय खोटा है। उस महल में घोड़े बड़े सुन्दर थे तो उनके निरखने में ही सारा समय व्यतीत हो गया। राजा ने कहा कि अच्छा तो फिर तुम्हें दो घण्टे की इजाजत देता हूं कि चान्दी के भण्डार में चले जाना, वहां से जितनी चाँदी ला सको, ले आना। वहां जाकर देखा तो बहुत सुन्दर स्त्रियों के चित्र थे और कुछ पत्थर की मूर्तियां भी थीं। उन्हें देखकर वह उनमें ही रमसा गया। उस चान्दी के भण्डार में और क्या बात हुई कि वहां पर कुछ गोरखधन्धे रक्खे थे, उनको देखने में लग गया। कुछ उलझे और कुछ सूलझे। इस प्रकार उनके देखने में दो घण्टे का समय व्यतीत हो गया। फिर खजांची ने सेठ को निकाल दिया।

प्रमाद से क्षति- अब सेठ फिर रोता हुआ राजा के पास पहुंचा। राजा ने उसे फिर दो घण्टे का समय ताम्बे के भण्डार में से तांबा निकाल लाने के लिए दिया। वहां पहुंचा तो देखा कि बहुत सुन्दर स्प्रिंगदार पलंग पड़े हुए थे। सोचा कि इन पर दो मिनट लेटकर देखना तो चाहिए। वह लेट गया। लेटते ही निद्रा आ गई। समय पूरा हो जाने पर खजांची ने उसे वहां से निकाल दिया। तो जैसे उस सेठ ने अपना सारा समय व्यर्थ ही खो दिया, इसी तरह यह मनुष्य अपना सारा जीवन यों ही व्यर्थ में खो देता है। किशोर अवस्था खेल खिलौनों में ही, उद्दण्डता के कार्यों में ही खो देता है, फिर कामवासना में अपना सारा जीवन बिता देता है।

मनुष्यभव भी पाया और विषयों की वान्छा दूर न हुई तो इस मनुष्यभव का क्या किया जाए? ऐसे जीवन को धिक् है।

विषयप्रेम की तुच्छता पर कवि का अलंकार- एक सभा में संगीत हो रहा था, वेश्या नाच रही थी, मृदंग भी बज रहा था, मंजीरा बज रहा था। हरमोनियम भी थी और हाथ पसार पसारकर नाच रही थी। उस समय के दृश्य का वर्णन कवि करता है--

मिरदंग कहे धिक् है धिक् है, मंजीर कहे किनको किनको।

तब वेश्या हाथ पसार कहे- इनको, इनको, इनको, इनको।।

यह कोई बरात की महफिल लग रही होगी, बराती लोग खूब रस ले रहे होंगे, उस समय का वर्णन कवि ने किया है। यों ही समझो कि यह मनुष्यभव मिला है, श्रेष्ठ तन मिला है तो इस मन के द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न करके बन्धनों को काट सकते हैं। इस मन को दुरुपयोग में लगा दिया तो उससे आत्मबल भी घट जाता है और पापबन्ध भी हो जाता है। ऐसे मनुष्यजीवन को पाने से लाभ क्या रहा?

दुर्लभ समागम की उपेक्षा का फल- देखिए यह नियम है कि यह जीव त्रस की पर्याय में साधिक दो हजार सागर के लिए ही आता है, इससे अधिक त्रस पर्याय में नहीं रह सकता। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के भव लगातार चलते रहें तो अधिक से अधिक ऐसे दो हजार सागर तक चल सकते हैं, इससे ज्यादा नहीं चल सकता। यदि इस अवधि में मुक्ति न हो सके तो उसे स्थावरों में जन्म लेना पड़ेगा। दूसरी कोई गति नहीं है और कुछ विशेष काल उन स्थावरों में रहता है। तब भी न निकल सके तो फिर निगोद में जाना पड़ता है। उस त्रसकाल में भी अधिक से अधिक मनुष्य की पर्याय इसको यों तो 8, 8, 8, बार में 24 पर्यायें मिलती हैं। पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में, किन्तु मनुष्य हुए और पशुपक्षियों का जैसा जीवन गुजारा तो नम्बर ही तो कट गया और कदाचित् आखिरी समय हो मनुष्य का तो इतना समझ लेना चाहिये कि कुछ काल बाद स्थावरों में जन्म लेना पड़ेगा।

व्यामोह में प्राप्त निधि का अलाभ- मनुष्यभव बहुत दुर्लभ है। सभी लोग गाते हैं, किन्तु इसका मूल्य नहीं आंकते। यहां तो ऐसी प्रकृति है कि जिसे जो कुछ मिला है, उसका वह मूल्य नहीं करता। जैसे जो आज दो लाख का धनी होगा, वह दो लाख कुछ नहीं समझता और मन में जानता है कि मुझे कुछ नहीं मिला। मुझे तो करोड़पति होना चाहिए। जिसे जो भी कुछ मिला है, उसे वह कहता है कि मुझे कुछ नहीं मिला। अरे, बहुत कुछ मिला है। जिसे जो मिला है, वह आवश्यकता से अधिक मिला है, परन्तु मोह में ऐसा अनुभव करते कि मुझे कुछ नहीं मिला है। करीब-करीब जितने यहां बैठे हैं, सबको आवश्यकता से अधिक मिला है। मानों जिसके पास जो है, उससे आधा होता तो क्या उसमें गुजारा न होता? करेंगे तो सब कुछ, करते ही हैं, लेकिन ऐसी भावना क्यों नहीं आती कि हमें तो जरूरत से भी ज्यादा मिला हुआ है। फिर हम आगे के लिए क्यों तृष्णा बनायें? इसी स्थिति में धर्म के लिए, ज्ञानार्जन के लिए सद्गोष्ठी का, सत्संग का लाभ लेने के लिए समय व्यतीत होना चाहिए।

बन्धनों में व्यग्रता- भैया ! बन्धन और मुक्ति दोनों तत्त्व परस्पर विरूद्ध हैं। बन्धन से तो क्लेश हैं और मुक्ति से आनन्द है। अभी किसी बालक से कहें कि बेटा, यहीं दो घण्टे तक बैठना तो उसका मन न चाहेगा कि हम यहां बैठ जायें, क्योंकि बन्धन महसूस किया ना। वैसे चाहे चार घण्टे तक बैठा रहे, पर वह बन्धनरूप वचन कह देने पर वह रह ही नहीं सकता है। प्रत्येक जीव को मुक्त होने में आनन्द मानने की आदत पड़ी हुई है। यह जीव सही मायने में मुक्त कैसे होता है और यह बँधता कैसे है? इन दोनों का स्वरूप इस श्लोक में बताया गया है। जो जीव परपदार्थ में है, यह मैं हूं, यह मेरा है- ऐसा बताया करता है, वह नि:संशय परपदार्थों से बन्ध जाया करता है और जो अपने आपमें 'यह मैं हूं' ऐसी बुद्धि रखता है, वह परपदार्थों से छूट जाता है।

पर से शांति की असंभवता- इस अशरण संसार में कौनसा बाह्य पदार्थ ऐसा है कि जिसकी आशा करें, उपासना करें, अनुराग करें तो उससे शांति मिल सके? जरा छटनी करके बता तो दो कि कौनसा पदार्थ ऐसा है? कोईसा पदार्थ ऐसा हो ही नहीं सकता। स्वरूप ही ऐसा नहीं है कि किसी परपदार्थ सम्बन्धी विकल्प बनायें और शान्ति पा लें। हां, इतनी बात जरूर है कि पहिले के अशान्ति के विकल्पों से कोई मन्द विकल्प हो तो हम शांति का अनुभव करते हैं।

जैसे घर के कामधन्धों के प्रसंग में जो आकुलता होती है, वह आकुलता मन्दिर के कामों के प्रसंग में नहीं होती। मन्दिर में वैसे काम बहुत रहता हैं, जैसे अब द्रव्य नहीं है, अब अमुक प्रबन्ध करना है, अब यह चीज लानी है, अब दसलाक्ष्णी आ रही है, अब सफाई करवानी है, अब अमुक काम करवाना है, कितने ही काम करने पड़ते हैं। अब आप यह बतावो कि ये सारे काम शान्ति से किए जा रहे हैं या आकुलता उत्पन्न हुई है, उसको मिटाने के लिए ये काम किए जा रहे हैं? ये भी सारे काम आकुलता के कारण किए जा रहे हैं। उन सभी कामों में भी आकुलता भरी है, अशांति पड़ी है, पर इतनी बात है कि घर के कामों में आकुलता यदि 80 डिग्री है तो मन्दिर के कामों में आकुलता 10 डिग्री है।

आपेक्षिकता में शान्ति की कल्पना- जैसे किसी के 104 डिग्री बुखार था और उतरकर 102 डिग्री रह जाए तो पूछने वाले पूछते हैं कि कहो भाई ! तुम्हारी तबीयत कैसी है? तो वह उत्तर देता है कि अब तो तबीयत ठीक है। यद्यपि अभी 102 डिग्री बुखार है, फिर भी मान लिया कि तबीयत ठीक है। हां वह 104 डिग्री बुखार के मुकाबले में कह रहा है। इसी प्रकार पूजा के, साधना के, तपस्या के जितने जितने भी काम हैं, वे सब काम भी बिना आकुलता और अशान्ति के नहीं होते हैं, लेकिन विषयकषायों के काम के मुकाबले में ये सब अल्प अशान्ति वाले काम हैं। इतनी बडी अशान्ति के काम न होने से हम इन्हें शान्ति के काम बोला करते हैं, पर कोई भी परपदार्थ का सम्बन्ध ऐसा नहीं है जो शान्ति से बने। शान्ति का कारणभूत कोई भी द्रव्य का प्रसंग नहीं हो सकता है। फिर परपदार्थों में यह मैं हूं, ऐसी बुद्धि करना तो महाबन्धन ही है।

अपनी दयापात्रता- अज्ञानीजन दया के पात्र बताये गए हैं। पापीजन घृणा के योग्य नहीं कहे गए, किन्तु दया के पात्र कहे गए हैं। ओह इन विषयकषायों में मस्त हुए ये जगत् के प्राणी अपनी प्रभुत्ता को खोये चले

जा रहे हैं। कितनी खेद की बात है कि हैं स्वयं प्रभुत्त्व से भरे हुए ज्ञानानन्दस्वभावमय, किन्तु अपने आपको ज्ञानानन्दरूप में अनुभव नहीं कर सकते। बाह्यपदार्थों की ओर ही दीनवृत्ति बनाए हुए हैं, मुझे अमुक से बड़ा ही सुख है, मुझे अमुक बड़ा आराम देता है। अरे, वह सुख और आराम तुम्हारे ही आनन्दगुण की पर्याय है, परपदार्थों के गुणों की पर्याय नहीं है। इस तत्त्व को भूलकर पर की ओर एहसान का भाव रक्खा है तो वह भी अपने आप पर अन्याय है। दूसरों पर एहसान डालना और दूसरों का एहसान मानना ये दोनों ही बातें अपनी प्रभुता पर अन्याय करने की हैं, परमार्थदृष्टि से विचारो।

आध्यात्मक्षेत्र की स्वच्छता- भैया ! लोकव्यवहार में तो दूसरों का ऐहसान मानने को गुण कहते हैं, कृतकृत्यता कहते हैं। बड़ा भला पुरुष है, दूसरों के उपकार की इसे सुध तो है। पर अध्यात्मक्षेत्र में दूसरों पर ऐहसान डालना और दूसरों का ऐहसान मानना- ये दोनों ही विकारकारक हैं। दूसरों पर ऐहसान थोपने में मान का दोष लगता है, तो दूसरों का ऐहसान मानने में दीनता का दोष लगता है। यह अध्यात्मक्षेत्र की बात कह रहे हैं। क्या व्यवहार में दूसरे के प्रति कृतज्ञता का भाव न किया जायेगा? किया जायेगा पर जिसे अपने आपके ज्ञानस्वरूप में संकल्प विकल्प है, ठहरने की धुन लगी है इसके लिए तो ये सारी बातें सुगम हैं।

अपूर्व प्रेम का एक दृष्टान्त- एक पौराणिक घटना है कि जब रामचन्द्र जी लंका विजय करके आये और खुशी में राजावों को सबको कुछ कुछ देश बांट दिये कि तुम अमुक देश पर राज्य करो, तुम अमुक देश पर राज्य करो, सबको वितरण कर दिया। एक हनुमान को कुछ न दिया। अब हनुमान जी खड़े होकर पूछते हैं, हे राम ! सबको तो तुमने सब कुछ दिया और मुझे कुछ नहीं दिया, इसका क्या कारण है? तो राम कहते हैं कि हम तुम्हें भी कुछ देते हैं, सुनो- मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नर: प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवान्छति।। हे हनुमान ! तुमने हमारा बहुत उपकार किया, मैं जानता हूं। बड़े-बड़े संकटों से तुमने मुझे बचाया, मैं जानता हूं, सीता का पता तुमने ही लगाया और इस युद्ध में भी जब-जब संकट आया तो तुमने ही सहारा दिया, जब भाई लक्ष्मण के रावण की प्रक्षिप्त शक्ति लग गई, मूर्छित हो गए तब भी उपाय तुमने ही किया, बहुत उपकार है तुम्हारा। लो अब तुमको उसके एवज में कुछ देते हैं सुनो, हे हनुमान जी, तुमने हमारा जितना उपकार किया है वह सब उपकार मुझमें खत्म हो जाय, मैं बिल्कुल भूल जाऊँ, यह बात मैं तुम्हें देता हूं।

आन्तरिक मर्म- भैया ! क्या सुना? क्या दिया? तुमने जो कुछ हमारा उपकार किया उस सब उपकार को मैं बिल्कुल भूल जाऊँ, एक भी तुम्हारा उपकार मुझे याद न रहे। यह मैं देता हूं। शायद आप लोग यह सोच रहे होंगे कि यह बुरी बात है। अरे राम तो यह कह रहे हैं कि मैं तुम्हारे सब उपकार को भूल जाऊँ। कोई पूछता है- क्यों साहब क्या दिया राम ने? तो दूसरी पंक्ति में इसका समाधान कर रहे हैं कि देखो हे हनुमान ! यदि तुम्हारा उपकार मुझे याद रहेगा तो मैं यह चाहूंगा कि मैं हनुमान का बदला चुकाऊँ। बदला चुकाऊँ का अर्थ यह है कि हनुमान पर कोई विपदा आये तो उस विपदा को दूर करूँ, प्रत्युपकार करूँ। ऐसी भावना यदि मुझमें जग जाय तो मैं इसको उत्तम नहीं समझता हूं। जो मनुष्य प्रत्युपकार की इच्छा रखते हैं उन्होंने आपत्ति तो पहले ही चाह ली कि इस पर कोई आपत्ति आए तो मैं इसकी आपत्ति को दूर करूँ। सो हे

हनुमान ! मैं तो यही चाहता हूं कि तुम पर कोई आपत्ति न आए। प्रत्युपकार करने की इच्छा तब होती है जब यह भावना हो कि इस पर संकट आए तो मैं भी इसका संकट दूर करूँ। देखिये, ऐहसान धरने में तो मदविकल्प है ही, किन्तु ऐहसान मानने में भी तो पहिली बात यह है कि दीनता आई, दूसरी बात यह है कि प्रत्युपकार के माध्यम से विपत्ति चाह ली। तो हुआ ना, दोनों में चित्तत्त्व पर अन्याय। यह अध्यात्मिकक्षेत्र की बात कही जा रही है।

शान्ति की ज्ञानसाध्यता- भैया ! जितनी भी प्रवृत्तियां है, चाहे वह लोकप्रवृत्ति हो, चाहे व्यवहारप्रवृत्ति हो वे सब अशांति को उत्पन्न करने का स्वभाव रखती हैं। शांति उत्पन्न करने का स्वभाव तो केवल ज्ञातृत्व में है। ज्ञान द्वारा ज्ञान के स्वरूप को निहारने में ही शांति उत्पन्न होती है। शांति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। तब फिर ऐसा ही उद्यम करें कि जिससे परपदार्थों में हमारी ममता बुद्धि न जगे। भीतर में ज्ञान का झक्काटा तो हो जाय, समझ में एक अटूट बात तो आ जाय कि यह अपने स्वरूप में पूर्ण है। मैं अपने स्वरूप में पूर्ण हूं। सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं। यह तो ज्ञानी की बात है। ऐसा ज्ञान जगे कि मैं मैं ही हूं, पर पर ही हैं। अपने में अहं और ज्ञानमात्र का अनुभव बने तो यह जीव परपदार्थों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मुक्ति से बढ़कर वैभव और कुछ नहीं है।

श्लोक 44

दृश्यमानमिदं मृढस्त्रिलिंगमवबुध्यते।

इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ।।44।।

बहिरात्मा का निज के विषय में अनुभवन- बहिरात्मा जीव जिसको कि बाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि हो गयी है और इसी कारण जो अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो गया है वह अपने आपके बारे में क्या कुछ अनुभव करता है या नहीं, इस जिज्ञासा के समाधान में यह श्लोक आया है। वस्तुत: देखो तो जितने भी जीव हैं वे सब चाहे पर के बारे में श्रद्धा हो या अपने विषय में श्रद्धा हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृष्टि हो, अनुभव तो निरन्तर करता ही रहता है और अपना ही अनुभव करता है। मिथ्यादृष्टि जीव अपना किस प्रकार का अनुभव रखता है? इसके विवरण में इस श्लोक को कहा गया है। मूढ़ पुरुष इस दृश्यमान शरीर को आत्मा रूप से मानता है और चूँकि इस शरीर में पुरुष लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग ये चिह्न हैं, सो अपने को ही मैं पुरुषलिंगी हूं, मैं स्त्रीलिंगी हूं, मैं नपुंसकलिंगी हूं इस प्रकार का अनुभव किया करता है।

निज का परमार्थस्वरूप- भैया ! परमार्थत: तो न कोई आत्मा पुरुष है, न कोई आत्मा स्त्री है, न कोई आत्मा नपुंसक है, किन्तु ज्ञानदर्शनात्मक चेतन सत् है। विभावपरिणाम का निमित्त पाकर जीव कैसी-कैसी शरीर स्थितियों में बँधता है यह बात तो अलग है किन्तु स्वरूप तो सर्व से विविक्त एक चैतन्यस्वरूपमात्र है। अपने आपमें ऐसा अनुभव किया जाना चाहिए कि मैं मनुष्य भी नहीं हूं, मैं तो एक चिद्रूप सत् हूं।

अज्ञानी और ज्ञानी के अनुभवन में अन्तर- अहो, बन्धन बद्धता के कारण इस जीव में कैसा अभिमान हो गया है, शरीर में अहंकार हो गया है कि इसकी प्रतीति बदल गई, इसकी वचन पद्धति बदल गयी और विचार संस्कार भी बदल गये। महाभाग, जिसका होनहार उत्तम है, वह आत्मा देह में रहता हुआ भी अपने में देहरूप का अनुभव नहीं करता है।

लिंगात्मक अनुभवन में अकल्याण- कोई स्त्री अपने आपको 'मैं स्त्री हूं' ऐसा अनुभव रक्खे तो वह संसार से पार नहीं हो सकता, यों ही कोई पुरुष अपने आपको 'मैं मर्द हूं, पुरुष हूं' ऐसा अनुभव कर ले तो वह भी संसार से पार नहीं हो सकता। जब यह देह भी मैं नहीं हूं तो देह में होने वाले चिह्नों से अपने आपको पुरुष अथवा स्त्री रूप समझना यह समीचीनता से परे है। मूढ़ पुरुष ही अपने आपको इन तीनों लिंगों रूप से अनुभव किया करता है। मूढ़ कहो, मोही कहो दोनों का एक ही अर्थ है। किन्तु लोग मोही शब्द सुनकर रुष्ट नहीं होते और मूढ़ कह दो तो रुष्ट हो जाते हैं।

व्यामोह में बुद्धि का दुरुपयोग- दो युवक मित्र सैर सपाटा करने जा रहे थे। रास्ते में एक बुढ़िया मिली। उन्होंने कहा रामराम। बुढ़िया ने कहा खुश रहो। वे दोनों आगे बढ़ गये। रास्ते में उन दोनों में परस्पर में विवाद हो गया। एक युवक बोला कि बुढ़िया ने तो मुझे आशीर्वाद दिया, तो दूसरा युवक बोला कि नहीं, मुझे आशीर्वाद दिया? दोनों में झगड़ा हुआ। तय हुआ कि अपन वापिस चलें और बुढ़िया से पूछे कि तुमने किसे आशीर्वाद दिया। पूछा- बुढ़िया मां, तुमने हम दोनों में से किसे आशीर्वाद दिया? बुढ़िया बोली कि तुम दोनों में से जो अधिक मूर्ख होगा उसे आशीर्वाद दिया। इस पर भी वे दोनों लड़ गये यह कहते हुए कि हम ज्यादा मूर्ख हैं।

मूढ़ता की दो कहानी- बुढ़िया ने एक से कहा कि बताओ कि तुम कैसे बेवकूफ हो? उसने कहा कि मेरी दो शादी हुई, दोनों स्त्री हैं। मैं जब अटारी पर से नीचे उतर रहा था तो एक स्त्री ने ऊपर से हाथ पकड़ लिया और दूसरी स्त्री ने नीचे से पैर पकड़ लिया। दोनों में आपस में खींचातानी हुई। ऊपर की स्त्री कहे कि ऊपर आओ, नीचे की स्त्री कहे कि नीचे आओ, इस तानातानी में मेरा यह वाला पैर टूट गया और अब देखो कि मैं लँगड़ा हो गया हूं।

अब बुढ़िया ने दूसरे से कहा कि अच्छा बताओ कि तुम कैसे मूर्ख हो? दूसरा बोला कि मेरे भी दो स्त्रियां हैं। मैं पलंग पर पड़ा था। एक स्त्री मेरे बायें हाथ पर सिर रखे सो रही थी और दूसरी स्त्री दायें हाथ पर सिर रखे सो रही थी। रात का समय था, सरसों के तेल का दिया जल रहा था। एक चूहा आया, उसने जलती हुई तेल की बाती को अपने दांतों से पकड़ कर गिरा दी। वह बाती हमारी आंख पर आकर गिरी। मैंने उस बाती को उठाया नहीं। मैंने सोचा कि यदि इस हाथ से उठाता हूं तो इस स्त्री को कष्ट होगा और यदि इस हाथ से उठाता हूं तो इसे कष्ट होगा। सो देखो मेरी एक आंख चली गयी, मैं कितना मूर्ख हूं? बुढ़िया बोली कि ठीक है बेटा, मैंने तुम दोनों को आशीर्वाद दिया।

अहंता और ममता का प्रकोप- भैया ! मूढ़ कहो या मोही कहो- दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। मोह करने वाले का नाम ही मूढ़ है और उसी का नाम मोही है। यह मूढ़पुरुष अपने आपको पुरुषरूप में, स्त्रीरूप में अथवा नपुंसकरूप में अनुभव किया करता है। इतना ही नहीं, बल्कि इसके ही तो माध्यम से यह अपने को कि मैं बच्चों वाला हूं, मैं बच्चों वाली हूं, मैं धनिक हूं, मैं सुभग हूं, कुरूप हूं आदि नाना प्रकार के अनुभव यह जीव किया करता है, किन्तु हे आत्मन् ! ये तेरे नाना अनुभव तेरी बरबादी के लिए हैं, इनमें तू हर्ष मत मान। अपने आपको सबसे न्यारा ज्ञानानन्दमात्र ही अनुभव किया कर। मोही जीव अपने को नानारूप अनुभवता है, किन्तु ज्ञानीपुरुष अपने को 'अनादिसिद्ध, स्वत:सिद्ध' शब्दमात्र से भी रहित यह चैतन्यप्रकाशमात्र मैं हूं- ऐसा अनुभव किया करता है।

मैं-मैं में क्लेश है, प्रसिद्ध बात है-

जो मैं ना मैं ना कहती है, पिंजड़े में पाली जाती है।

जो मैं-मैं, मैं-मैं करता है, वह अपना गला कटाता है।।

अर्थ यह है कि जो अपने को मैं मैं कहा करता है, वह बुरी तरह से बरबाद होता है और जो अपने को न कुछ मानता है, उसका कभी कोई बिगाड़ नहीं है।

स्वार्थसाधना में छलव्यवहार- बहुत समय पहिले की बात है- 'माधुरी' पत्र निकलता था। उसमें एक कहानी आयी, बचपन में मैंने (मनोहरजी वर्णी ने) पढ़ी थी। कहानी यह थी कि एक नटखट लड़का था। नाम तो उसका रामू था, पर उसने किस किस जगह क्या क्या नाम बताकर कैसे-कैसे चकमा दिया, इस बात को सुनो- वह पाव भर रसगुल्ले लेकर चला। एक गांव के किनारे एक धोबी कपड़े धो रहा था, उसका छोटा लड़का भी उसके संग में था। धोबी के लड़के को उसने रसगुल्ला खिला दिया। उसे मीठा लगा तो वह उनको खाने के लिए मचल गया, मैं तो और खाऊँगा। धोबी पूछता है कि अरे, तूने इसे क्या खिला दिया? वह बोला रसगुल्ला, रसगुल्ला। धोबी ने पूछा कि कहां होते हैं? अरे चले जावो, ये बाग खड़े हैं, वहां से तोड़ लावो।

अब वह धोबी चला अपने लड़के को लेकर रसगुल्ले तोड़ने। सारे कपड़े बर्तन वहीं रख गया। उस लड़के से कह गया कि थोड़ी देर इसे देखते रहना। अब इस लड़के ने यहां क्या किया कि थाली लोटा व बढ़िया कपड़े लेकर चम्पत हो गया। धोबी ने पहिले उसका नाम पूछ लिया था- उसने बताया था कि मेरा नाम है कलपरसों। अब धोबी को कहीं रसगुल्ले न दिक्खे तो वह हैरान होकर गुस्से में वापिस आया तो देखा कि अच्छे कपड़े, थाली, लोटा गायब। तो वह चिल्लाने लगा कि दौड़ों भाईयों मेरे कपड़े कलपरसों ले गया। लोग आये और कहा कि अरे, कलपरसों कपड़े कोई ले गया तो आज क्यों रोते हो?

माया में मायाचार- वह लड़का बहुत दूर बढ़ गया। आगे जाकर एक घुड़सवार मिला। घुड़सवार को प्यास लगी। उस लड़के के पास लोटा डोर थी, उसने पूछा कि अच्छा तुम्हारा नाम क्या है? उसने कहा कि मेरा नाम है, कर्ज देने में। वह उस लड़के को घोड़ा पकड़ाकर कुवे का पानी पीने लोटा डोर लेकर चला गया। अब घुड़सवार चिल्लाता है कि अरे भाईयों, दौड़ों, कर्ज देने में मेरा घोड़ा ले गया। लोग आए और कहा कि ओ भाई, कर्ज देने में घोड़ा ले गया तो क्या बुरा किया?

मैं मैं की प्रतिक्रिया- अब वह लड़का एक शहर में पहुंचा, सोचा कि कहां ठहरूँ? एक धुनिया का घर था, वहां उतर गया। धुनिया तो वहां था नहीं, कहीं बाहर गया था, घर में धुनिनी थी। वह उससे कहता है- मां मुझे रात्रि भर ठहर जाने दो, सवेरा होते ही अपने घर चला जाऊँगा। तो उसने कहा- अच्छा बेटा ! ठहर जावो। क्या नाम है तुम्हारा? तो वह लड़का बोला मेरा नाम है, तू ही तो था। अच्छा तू ही तो था, बेटा ठहर जावो। वह ठहर गया। पास में थी एक बनिये की दुकान, वहां से शक्कर, घी, आटा, दाल सब ले लिया और कहा कि सबेरे तुम्हारे सब पैसे चुका देंगे। वह बढ़िया कपड़े पहिने था सो उसे उस लड़के की बात पर विश्वास हो गया। उसने नाम पूछा तो बताया कि मेरा नाम, मैं ही था। उसने रोटी बनाई और जहां रूई रक्खी थी वहां पर धोवन डाल दिया। अब वह तो रात्रि व्यतीत होते ही सुबह चला गया। दोपहर में धुनिया आया सारी रूई खराब देखी। तो वह पूछता है कि यहां रात्रि को कौन ठहरा था? तो स्त्री कहती है कि तू ही तो था, क्योंकि यह नाम ही था उसका। उसने कहा ठीक-ठीक क्यों नहीं बताती? कहा, तू ही तो था। उसने डंडे लेकर दो चार जमाये। अब वह बनिया आकर दया करके बोलता है, अरे भाई, इसे मत मारो जो यहां ठहरा था, वह मैं था। लो वह बनिया पीटा।

लिंगात्मक मायास्वरूप की हेयता- तो भैया! जो मैं मैं करता है वह पीटा जाता है। अच्छा घर गृहस्थी और समाज में भी देखो- क्या दु:ख है? यदि यह जान जायें कि मैं तो सबसे अपरिचित चैतन्यतत्त्व हूं तो किसी बात का झगड़ा ही नहीं है। अज्ञानी जीव को शरीर से भिन्न इस निज आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं है, इस कारण वह अपने को नानारूप मानता है। अभी किसी छोटी बच्ची से कहो कि तू तो लड़का है तो वह लड़की कहेगी कि हट, तू ही होगा लड़का, मानों वह समझती है कि लड़का होना खराब बात है। लड़के को कहो कि तू तो लड़की है, तो वह कहेगा कि हट, तू ही होगा लड़की। तो लड़का जानता है कि लड़की होना खराब है और लड़की जानती है कि लड़का होना खराब है। तो उसका अर्थ यह हुआ कि दोनों होना ही खराब है। जब लड़की को लड़का सुनना पसंद नहीं और लड़के को लड़की सुनना पसंद नहीं तो इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों ही होना खराब है।

मनुष्य में मान की टेव- अपने को मानो कि मैं सबसे विविक्त एक यथार्थ ज्ञानात्मक तत्त्व हूं। यह सब स्वप्न का सा बड़ा विकट झमेला है। किन्तु कोई गम नहीं खाता, इसी को सार मानकर इसी में आसक्त हुआ जा रहा है। मनुष्यगति में मान कषाय की प्रबलता है, सो मानों अपने सिद्धान्त की बात मनुष्यजन रख रहे हैं कि कहीं सिद्धान्त न गलत हो जाय। नरक गति में क्रोध कषाय अधिक है, तिर्यंचगति में माया कषाय अधिक है और देवगति में लोभ कषाय अधिक है। सो मानों मनुष्य ऐसा सोच रहे हैं कि खूब मान किए जावो

नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि जैन शास्त्र गलत हो जायें। यह हँसी की बात कह रहे हैं। जैन शास्त्र यह भी तो कह रहे हैं कि मनुष्य कर्म काटकर मुक्ति प्राप्त करता है, ऐसा क्यों नहीं किया जाय?

मान का अनुद्वमन- देहरादून के चातुर्मास में एक डेढ़ मील रोज घूमने जाना पड़ता था सुबह के समय। तो रास्ते में कुछ पंजाबियों के या और किसी के लड़के गोली, पतंग इत्यादि खेल खेला करते थे। तो कभी कभी ऐसा मन में आता था कि बहुत दिनों से गालियां सुनने को नहीं मिली हैं चलो इनके खेल को पैरों से थोड़ा मिटार दें तो कुछ न कुछ तो सुनने को मिलेगा ही, कुछ न कुछ गालियां तो देंगे। मैंने मिटार भी दिया तो किसी लड़के ने कुछ गाली दी, किसी लड़के ने कुछ गाली दी। सो वह मन बहलावे की बात थी। क्योंकि जानते हैं कि बच्चों की गालियां मधुर होती हैं। मान कषाय इस मनुष्य में कूट-कूट कर भरी हुई हैं।

व्यामोहियों से आशय में व्यामोह का महत्त्व- यह समझना चाहिए कि मेरे को जानने वाला कोई है ही नहीं। भीतर प्रवेश करके देखो मेरा क्या स्वरूप है? क्या यह दृश्यमान शरीर मैं हूं? यदि यह शरीर मैं हूं तो यह बहुत बुरी तरह से जला दिया जाता हूं मृत्यु के बाद। इस घर के ही लोग इस मुर्दा को बहुत देर तक रखना पसंद नहीं करते, जिसकी बड़ी सेवा की जाती है। करीब-करीब ऐसा रोज आंखों में दृश्य आया करता है, फिर भी अपने आपके बारे में ऐसा सुझाव नहीं होता है कि क्या रक्खा है इस शरीर की मान्यता में? इस शरीर को ही लोग महत्त्व दिया करते हैं। आत्मा को कोई महत्त्व नहीं देता। आत्मा तो अमूर्त है, ज्ञानानन्द-स्वरूप है। इसकी ओर किसकी दृष्टि है? अज्ञानी की इस शरीर पर दृष्टि है, सो शरीर जैसा है उस ही रूप यह अपने को अनुभव किया करता है।

आत्मा की स्वत: निष्पन्नता- किन्तु अन्तरात्मा को देखो वह अपने आत्मा को देखता है कि मैं अनादि सिद्ध हूं, पैदा भी होने वाला नहीं हूं, किसी गति से आता किसी गति से जाता हूं, फिर भी सदा रहता हूं। जैसे कोई पुराने घर को बदलकर नये घर में पहुंचता है तो क्या कोई खिन्न होकर जाता है? वह तो खुश होकर पहुंचता है। यों ही यह जीव पुराने शरीर को बदलकर नये शरीर में पहुंचता है, वहां हो रहे है ये सब काम, उसमें खेद की बात क्या है? किन्तु जिसको शरीर ही आत्मा विदित है उसको तो उस समय बड़ा संक्लेश होता है। यह मैं आत्मा स्वत: निष्पन्न हूं, किसी अन्य पदार्थ से रचा हुआ नहीं हूं, मेरे उत्पन्न करने वाले माता पिता नहीं हैं। यह परमार्थ स्वरूप की बात कही जा रही है। यह अज है।

आत्मा की शब्दवर्जितता- इस आत्मतत्त्व में किसी प्रकार का शब्द ही नहीं है। जीव यह ज्ञान करता है तो ज्ञान करने से पहिले या साथ साथ इसको अन्तरंग में कोई शब्द उठा करते हैं। अच्छा हम आपसे पूछें कि यह क्या चीज है, इसको जानो? तो आप जान तो लें पर अन्तरंग में घ और ड़ी ऐसे शब्द न बनावो और जान जावो। तो ऐसे जानने में आपको मुश्किल पड़ रही होगी। वस्तु के जानने के साथ अन्तरंग में कुछ शब्द उठा करते हैं। तो आचार्यदेव यह बताते हैं कि व्यवहारिक संस्कार के कारण ऐसा हो जाता है, परमार्थत: तेरे में तो शब्द ही नहीं है। यह जीव अपने को किसी रूप अनुभव करने से पहिले अथवा उस अनुभव करता है तो उस अनुभव के साथ-साथ इसमें कोई शब्द उठा करते हैं, अरे तू तो शब्दों से भी रहित

है अथवा शब्दमूलक जो अनुभव है, उस अनुभवरूप तू अपने को क्यों मानता है? अपने आपको शब्द रहित स्वत: सिद्ध एक चैतन्यस्वरूप मान कि यह मैं हूं और इस मुझ स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नटखट यह मैं कुछ नहीं हूं।

देहविविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की भावना- भैया ! ये सब मायास्वरूप हैं, जो नष्ट हो जाते हैं। मैं कभी नष्ट नहीं होता। यह मैं परमार्थ रूप एक चैतन्यस्वरूप हूं। अपने आपमें बिना गिने जाप करो कि यह मैं इस शरीर से भी न्यारा ज्ञानमात्र हूं। देखो किए बिना कुछ न होगा। और करना भी क्या है धर्म के लिए? मात्र भावना। क्योंकि, यह जीव भावना के सिवाय अन्य कुछ किया भी नहीं करता है। और धर्म के प्रसंग में तो भावना ही एक कर्तव्य है। अपने आपमें ऐसी भावना बिना गिने बहुत काल तक बनावो, कहीं भी बैठे हो, सब ओर का ख्याल छोड़कर के मैं शरीर से भी न्यारा ज्ञानमात्र हूं- इस प्रकार की बारबार की भावना करने से अर्थात् ज्ञानभावना होने से अविद्या का संस्कार खत्म होगा और अपने आपको ज्ञानरूप अनुभूति प्रकट होगी। जब ज्ञानरूप में अपने को अनुभूति प्रकट हो लेगी उस काल में अलौकिक आनन्द प्रकट होगा। बस उस ज्ञान और आनन्द के अनुभव का नाम ही सम्यक्त्व का अनुभव है। ऐसा जिसका अनुभव हो जाता है उसे फिर ये सब विषय सुख, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, प्रतिष्ठा, यश, वैभव सब कुछ उसे असार जंचने लगते हैं। वह बार-बार अपने ज्ञानस्वरूप में प्रवेश करने का यत्न किया करता है।

अज्ञानी और ज्ञानी के भाव में अन्तर और परिणाम- भैया ! यों देखो- अज्ञानी के और ज्ञानी के भावों में कितना अन्तर है? अनुभव में भी कितना अन्तर है? अज्ञानी अपने को पुरुष, स्त्री, नपुंसक आदि रूप मानता है और ज्ञानीपुरुष अपने को स्वच्छ, शुद्ध, शब्द रहित ज्ञानानन्दस्वभावमात्र मानता है। देखो मानने के सिवाय और कुछ कर ही नहीं रहा है, इस मानने को बदल दें भीतर में, तो मोक्ष का मार्ग निकट है। यदि पहिले ही जैसी मान्यता बने कि यह दृश्यमान् मैं हूं, ये मेरे हैं, मेरे कुटुम्बी हैं, इनसे मेरा हित है, सुख है, इनसे ही मेरा जीवन है, ऐसी मान्यता बनी रहेगी तो इस खोटी मान्यता में क्लेश ही क्लेश हैं। इससे तो जन्ममरण की परम्परा बढ़ती रहेगी। ऐसा जब भी ख्याल आये तो एक बात पकड़कर रह जायें, ऐसा अनुभव करें कि मैं देह से भी न्यारा केवलज्ञान स्वरूप हूं। ऐसा ही अन्तर में निरखिये तो इस पुरूषार्थबलसे ज्ञानस्वरूप का अनुभव जगेगा और सत्य आनन्द की प्राप्ति होगी।

श्लोक 45

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।

पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति।।45।।

पूर्वविभ्रमसंस्कार की विडम्बना- आत्मतत्त्व को जानता हुआ भी और सर्व से विविक्त आत्मतत्त्व की भावना करता हुआ भी पूर्वकालीन विभ्रम के संस्कार के वश से यह फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त होता है। इस

मोह पिशाच का कितना संताप है कि ज्ञानी भी कोई पुरुष हो गया, फिर भी यद्यपि इस समय में मोह नहीं है किन्तु पहिले जो मोह किया था उसके संस्कार के वश से अब भी परपदार्थों में भ्रांत हो जाता है। जैसे लोग कहा करते हैं कि भला ज्ञान करने पर भी राग उठता और यह बंधन से अलग नहीं हो पाता, ऐसा कौनसा कारण है? वह कारण है पूर्वकालीन विभ्रम का संस्कार।

ज्ञान होने पर भी असावधानी से विडम्बना- इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि एक बार ज्ञान परिणाम करने के बाद भी यह जीव सावधान न रहे तो फिर सम्यक्त्व छूट कर वहां ही अज्ञान दशा को प्राप्त हो जाता है। इस कारण यथार्थ परिज्ञान करके भी उस यथार्थ ज्ञान के लिए हमें सदा जागरूक और यत्नशील रहना चाहिए। जैसे जिस पुरुष ने पहिले नशा किया था, समय व्यतीत होने पर नशा हल्का हो जाय अथवा नशा उतर जाय उस काल में थोड़ी असावधानी करे या थोड़ी अटपट कल्पनाएँ या कोई खटपट करे तो पहिले की तरह उसका नशा शीघ्र आ जाया करता है। अथवा गरम किए हुए पानी को ठंडा किया जाय, अभी-अभी ठंडा हो रहा है और पानी का पुन: आग से सम्बन्ध हो जाय तो वह बहुत शीघ्र गरम हो जाता है। पहिले से ठंडा हुआ जल हो वह उतने शीघ्र गरम नहीं हो पाता। यह नया-नया ज्ञानी हुआ है, इसके बहुत खतरे हैं। जब तक ज्ञानभावना का अभ्यास दृढ़ न हो जाय तब तक इसको खतरा ही खतरा है।

ज्ञानी को खतरा व अज्ञान का गर्त- यह ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्व को जानता हुआ भी और सर्व से विविक्त इस आत्मतत्त्व की भावना करता हुआ भी पूर्वकालीन भ्रम के संस्कार के वश से फिर भी भ्रांति को प्राप्त हो जाता है। फिर जो अज्ञानी जीव हैं, स्वच्छन्द होकर मनमाना विषयों में लीन हो रहे हैं, उनकी तो कहानी ही क्या कहें? जब ज्ञानियों को देखें वे इतने खतरे में पड़े हुए हैं तो पहिले से ही अज्ञानगर्त में डूबे हुए संसारी प्राणी की तो कहानी ही क्या कही जाय?

अंतत्त्व में तत्त्वबुद्धि पर खेद- भैया ! कोई तत्त्व तो नहीं है किसी भी बाह्यपदार्थ की प्रीति में। खूब परख लो कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है अपने आपके स्वरूप से अतिरिक्त अन्य पदार्थों में। खूब निरख लो- लेकिन क्या गजब हो रहा है? अत्यन्त भिन्न यह आत्मा अपने ही प्रदेश में ऐसी कल्पनाएँ बना रहा है कि बाह्यपदार्थों के बन्धन से छूट नहीं पाता है। एक दोहा है- जैन धर्म को पाय के बर्ते विषय कषाय। बड़ा अचम्भा है यही जल में लागी लाय।। जैसे जल में आग लग जाय, ऐसी कोई खबर दे तो विश्वास कम होता है। लग जाय जल में आग तो अब काहे से बुझाना, ऐसे ही इस जैनतत्त्व को पाकर, इस सत्य पंथ को पाकर विषयों की प्रीति न घटे, विषयकषायों का रूप और बढ़ता जाय तो फिर कहां से कल्याण का पंथ मिले?

ज्ञानीपन- जागरूक यदि यह मनुष्य रहे, 'निज को निज पर को पर जान' यह नीति उसकी बिल्कुल स्पष्ट हो, तब उसे आकुलता नहीं जग सकती है और फिर है क्या? जो हो रहा है ठीक है। कमायें, घर में रहें सब कुछ करें, पर करते हुए भी कोई प्रतिकूल घटना हो जाय, धन में कमी हो जाय, आय न हो, इष्ट का वियोग हो जाय, कैसी भी घटना हो जाय तो वहां चित्त फक्कड़ रह सके तब तो समझो कि यह ज्ञानी है।

अर्थात् किसी भी विपदा में यह अपने में विषाद न माने, इसमें किंकर्तव्यविमूढ़ता न आये, हाय अब क्या करें, हमको कोई पंथ भी नहीं दिखता, ऐसा विह्वल न बन सके तो समझो कि वहां ज्ञान है।

परमार्थ शौर्य- भोग तजना शूरों का काम, भोग भोगना बड़ा आसान, सम्पदा मिले, मस्त हो रहे, यह शूरवीरता नहीं है। यह तो एक संसार की रीति है, बल्कि आत्मा की ओर से कायरता है। जिसे कि शौर्य समझते हैं, ये सर्व बाह्य पदार्थ तो इस आत्मा की दृष्टि में अत्यन्त धूलवत् हैं। जैसे धूल से आत्मा का कोई हित सम्भव नहीं है, इसी प्रकार इस वैभव से भी आत्मा के हित का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। रही बात एक शरीर की, इसको दो काम तो चाहिए क्या? भूख प्यास न रहे, और ठंडी गरमी से बचत हो। इन दो कामों के अतिरिक्त और क्या अटका है? इनका उपाय तो साधारण श्रम से भी हो जाता है। जब कीड़े मकौड़े भी अपना उपाय कर लेते हैं तो मनुष्यों से क्या उपाय न बनेगा? हो जाता है थोड़े में ही साध्य। और इनमें भी भूख प्यास शरीर की बाधा मिटा दें तो इससे कहीं शरीर की ओर से धर्म न मिल जायेगा। वहां तो इतनी गुंजाइश मिल जायेगी कि यह दुष्ट शरीर अपनी दुष्टता न बगरायेगा। ऐसी स्थिति में धर्म के पथ में यदि हम आगे बढ़ सकेंगे तो ज्ञानबल से ही बढ़ सकेंगे।

शरीर से स्वहित की निराशा- इस शरीर का नाम उर्दू में शरीर है। शरीर मायने शरारती। शरीफ इसका उल्टा शब्द है। इस शरीर के मायने है सज्जन, महानुभाव और शरीफ का उल्टा है शरीर। शरीर का अर्थ है शरारत करने वाला। तो यह शरीर दुष्टता न बगराये, इतनी ही इस शरीर की बड़ी कृपा मानेंगे। इससे ज्यादा और कुछ शरीर से आशा नहीं है। धर्ममार्ग में प्रगति करें तो उसमें ज्ञान ही हमें सहायक होता है। तो जब आत्मतत्त्व का परिज्ञान भी कर लेते हैं तिस पर भी पूर्वकालीन वासनावों से हम डिग जाते हैं, च्युत हो सकते हैं। तब हमें ज्ञान प्राप्त करके भी प्रमादी नहीं होना चाहिए, किन्तु इस ज्ञान को बनाए रखने में हमें सावधान रहना चाहिए।

ज्ञानार्जन से हित की आशा- हम ज्ञानार्जन करें, स्वाध्याय करके ज्ञानार्जन करें, गुरुजनों से पढ़कर करें, धर्मात्मावों में चर्चा करके करें, हर सम्भव उपाय से हमारे उपयोग में ज्ञान की भावना बने। देखो जब पुस्तक लेकर, बस्ता सा लेकर जो पढ़ने जा रहा है उसके चित्त में ऐसा रहता है कि हम पढ़ने जा रहे हैं। उस समय वह बालकवत् कुछ तो निर्विकार हो ही जाता है, कुछ तो प्रसन्नता रहती ही है। बुजुर्गी का अनुभव करने में जो बोझ है वह बोझ हट जाता है। आप लोग ऐसा अनुभव भी करते होंगे जब पुस्तक उठाकर कापी लेकर, रजिस्टर लेकर पढ़ने के भाव से आते होंगे, उस समय 40-50 वर्ष का पिछड़ा हुआ वह बचपन थोड़ी झलक दे ही जाता है और उस झलक में आपके कितने ही विकार शांत हो जाते है। पढ़ते हैं इसके नाम में भी ज्ञान है, फिर पढ़ने की तो कहानी कौन करे?

ज्ञान का महत्त्व- भैया ! ज्ञान के समान जगत् में और कोई दूसरा वैभव नहीं है। अन्य वैभवों को तो चोर लूट लें, डाकू छीन लें, राजा छुड़ा ले, और अनेक लोग इसकी घात लगाते हैं अथवा गुजर जाय तो यों ही छूट जाय, किन्तु अर्जित ज्ञान एक ऐसा वैभव है कि इसे चोर चुरा नहीं सकते, डाकू छीन नहीं सकते,

राजा ले नहीं सकता और मर जाने पर भी इसका संस्कार साथ जाता है। तो अब तुलना कर लीजिए कि विद्या का वैभव बड़ा है या इस क्षणिक वैभव का वैभव बड़ा है?

ज्ञान के अज्ञानी की विडम्बना- एक कथानक है। एक पुरुष साधु जी के पास पहुंचा। बोला महाराज, मुझे आत्मा का ज्ञान नहीं है, मेरे पास ज्ञान नहीं है, मुझे ज्ञान दीजिए। तो गुरु ने कहा, अरे चले जावो उस यमुना नदी के अमुक घाट पर, वहां एक मगर उस घाट पर रहता है उससे कहो कि मेरे में ज्ञान नहीं है तो वह ज्ञान तुम्हें दे देगा। वह चला गया घाट पर, मगर भी मिल गया। उसने कहा- हे मगरराज, मेरे ज्ञान नहीं है, मेरे को ज्ञान दे दो। तो मगर संकेत करता है कि मैं बड़ा प्यासा हूं, तुम्हारे हाथ में लोटा डोर है, उस कुए से पानी भर लावो, मैं प्यास बुझा लूँ तब तुम्हें हम ज्ञान देंगे। तो वह बोला मुझे तो बड़े आचार्य ने भेजा है तुम्हारे पास कि वह तुम्हें ज्ञान देगा किन्तु तुम तो बेवकूफ हो, पानी में डूबे हुए हो और कहते हो कि मुझे प्यास लगी है, कुए से पानी भर लावो, पानी पी लें तब ज्ञान दें। तो मगर की ओर से उत्तर मिलता है कि ऐसे ही बेवकूफ तुम हो। अरे ज्ञान ही तेरा स्वरूप है, ज्ञान ही तेरी बौडी है, तिस पर भी तू ज्ञान पूछने आया है कि मेरा ज्ञान गुम गया, मेरे को ज्ञान दो। अरे जो यह जान रहे हो कि मेरे में ज्ञान नहीं है वही तो ज्ञानमय तत्त्व है। जो अपने आपको मना करता है कि मैं आत्मा फात्मा कुछ नहीं हूं, जो इस प्रकार की जानकारी करता है वही तो आत्मा है।

आत्मज्ञान की सुगमता- भैया ! इस आत्मा के ज्ञान में कोई कठिनाई नहीं है, कोई श्रम नहीं है, कोई विलम्ब नहीं है, किन्तु थोड़ा इस ओर अपने उपयोग को उन्मुख करना है, फिर तो यह विशद स्पष्ट सामने है। इतना ही न किया तो आत्मदर्शन होना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। क्या साधारणतया इतनी बात का परिज्ञान नहीं है कि यह सारा जगत् धोखा है, सब पदार्थ विनाशीक हैं। अरे जब तक समागम भी है तब तक भी अनाकुलता का हेतुभूत नहीं है। जो लोग दिखते हैं ये सब भी स्वप्न की तरह दिख रहे हैं, सब माया स्वरूप हैं, परमार्थभूत कुछ नहीं हैं। यहां कोई ऐसा नहीं है कि जिसको पूर्ण प्रसन्न कर लिया जाय तो संकटों से छुटकारा हो जायेगा। है ही नहीं कोई ऐसा। किसी में शक्ति ही नहीं है ऐसी। ये सब कलाएँ तो अपने आपमें बसी हुई हैं। हम अपनी कला से अपने आपको प्रसन्न कर सकते हैं, सुखी कर सकते हैं, मेरे को शांत और सुखी करने की सामर्थ्य किसी अन्य जीव में नहीं है। क्या हमारे कुछ परिज्ञान है नहीं? है, पर उस परिज्ञान का हम मूल्य नहीं करते हैं। उसे हम भीतर में नहीं अपनाते हैं, अपने आप पर घटित नहीं करते हैं, सो जानते हुए भी मूर्ख बने हुए हैं।

सत्य का निर्णय, आग्रह और प्रवर्तन- एक बार सत्य निर्णय करके फिर उसके उद्यम में लगा जाय। गिरें कई बार तो गिरने दो। एक चींटी भींत पर से कितनी ही बार गिरे, फिर भी वह अपना साहस नहीं तोड़ती है और कितना ही विलम्ब हो जाय उस भींत के सिरे तक चढ़ने में, मगर अपना श्रम सफल कर लेती है। तो हम जो कुछ निर्णय करें, जो स्वाधीन सत्य निर्णय करें और उस पर सत्य निर्णय करके चलें तो क्या हम वहां तक पहुंच नहीं सकते? मिला है समागम घर का, स्त्री का, पुत्र का तो उस समागम का लाभ धर्म के रूप में लेना चाहिए। देखो प्रेम का प्रेम नहीं छूटा और काम का काम भी बन गया। हैं स्त्री पुत्र घर में,

आप उनसे भी धर्म में रुचि की बात कहें, अपने से भी धर्म के रुचि की बात कहें और परस्पर ऐसा कार्य-क्रम बनाएँ कि जिससे उत्साह दिन दूना यह रहे कि चलो बढ़े चलो धर्ममार्ग में। देखिये गृहस्थी भी नहीं छूटी, संग भी बना रहा और धर्म का अनुपम लाभ भी उठाया गया। उस मित्रता को बदल दिया जाय धर्म के रूप में, यहां वहां के भ्रमण में दृश्य देखने में, तफरी करने में अपनी मित्रता को बेकार करते हैं। अब उस मित्रता को बदलकर धर्ममार्ग में चलना और चलाना, सत्य आनन्द पाते और पहुंचाते हुए उस मित्रता को बदल दें, उस बंधुत्व को बदल दें। सब काम हो जायेंगे।

तपस्या का प्रयोजन- भैया जान समझ करके भी अभी बहुत खतरा है कि कहीं भ्रष्ट न हो जायें, कहीं फिर पाया हुआ ज्ञान छूट न जाय, इसके लिए बड़ी सावधानी रहनी चाहिए। साधुसंत जन क्यों तपस्या करते हैं? क्या शरीर को कष्ट दे करके मुक्ति होती है? जब जान लिया उन्होंने कि आत्मा का यह ज्ञानस्वरूप है जाननमात्र और यह जानन स्वभाव स्वयं अनाकुलता को लिए हुए है। केवल ज्ञातृत्व में कहीं भी रंच आकुलता नहीं है। जब यह परिज्ञान कर लिया तब उन्हें और करने को क्या रहा? बस यह परिज्ञान बनाए रहें तो मुक्त होने लगें। क्यों तपस्या किया करते हैं, क्या है उनकी तपस्या का प्रयोजन? सुनिये- बड़े आराम से पाया हुआ ज्ञान बड़ी सुकुमारता के वातावरण में उपार्जित किया हुआ आत्मज्ञान, यथार्थज्ञान, कभी थोड़ी विपदा आ जाने पर नष्ट हो सकता है, क्योंकि विपदा झेलने का अभ्यास नहीं है, थोड़ी विडम्बना, विपदा आने पर यह सब कुछ अपने ज्ञान की बात भूल सकता है और उस काल में फिर यह संसार गर्त में डूब जायेगा।

किसी भी अवसर में व्यग्र न होने के अर्थ तपस्या का अभ्यास- तब क्या करना? जान-जानकर शरीर का क्लेश सहना, अनशन करना। कहीं ऐसा न हो कि दुर्भाग्य से कभी भोजन का मौका ही न मिले और भूखे रहना पड़े तो वहां ज्ञान को हम खो न बैठें, संक्लेश में हम आ न जायें। उनकी सावधानी बनाये रहने के लिए यह अभ्यास है। जैसे कोई सोचे कि सेना को इतना एक्सरसाइज कराने में क्यों इतना व्यय किया जा रहा हैं करोड़ों, अरबों रुपयों का? अरे युद्ध तो किसी दिन होगा? जिस दिन युद्ध होगा उस दिन हो जायेगा, कर लिया जायेगा युद्ध। अरे कर कैसे लिया जायेगा? युद्ध उसके लिए तो वर्षों शिक्षा की आवश्यकता है। जब उस शिक्षा में निपुण हो जायेंगे तब तो युद्ध में सफल हो सकेंगे। क्यों सोचें काहे को क्लेश सहें, क्यों तपस्या करें, क्यों अनशन करें? अरे आयेगा दिन कोई दुर्दिन ऐसा कि न मिलेगा भोजन, मुश्किल से मिलेगा, उस दिन देख लिया जायेगा। और आयेगा ही ऐसा क्यों दिन, क्योंकि हम तो पुण्य के ठेकेदार हैं, कैसे आयेगा वह दुर्दिन कि जिस दिन खाना ही न मिलेगा और जब ऐसा दुर्दिन आयेगा निपट लिया जायेगा, उस पर सम्भावित एक दिन के संक्लेश के या कष्ट के बचाव के लिए हमें वर्षों, महीनों कष्ट सहने की क्या जरूरत है? वर्षों के इस यथा शक्ति कष्ट के अभ्यास के बिना हम दुर्दैव से पाये हुए उस विपदा में अपनी समझ को खराब नहीं कर सकते।

अनेक यत्न के बाद फलित कार्य की सिद्धि- कोई सोच तो ले ऐसा कि भांवर पड़ना, विवाह होना तो एक मिनट में होता है, तब फिर क्यों महीनों से उसमें हम फंसे। तैयारी कर रहे हैं, निमंत्रण दे रहे हैं, लोग आ रहे हैं, पूजनविधि कर रहे हैं, खबर भी कर रहे, अरे एक मिनट की तो बात है, ठीक समय पर बुला

लिया दूल्हा को, बस एक मिनट में कर दिया भांवर, हो गया विवाह। करे कोई ऐसा विवाह, तो विवाह का फिर सारा मर्म ही नष्ट हो जायेगा। जब इतने नटखट करके, पंचों को बुला करके, आमन्त्रण करके, इतना सजावट करके उस एक मिनट का काम करते हैं तो जीवनभर का एक दूसरे का निभाना ऐसा बन्धन पड़ता है। यदि एक एक मिनट के काम बन जायें तो एक ही दिन बाद कहो कि तलाक हो जाए, हट जावो, कोई प्रयोजन नहीं है।

समाधिमरण की लब्धि में अर्थ आजीवन अभ्यास- समाधिमरण होता है अन्तिम समय में, पर समाधिमरण की बात सीखने के लिए जीवन भर धैर्य रक्खे, शांति से रहे, ज्ञानार्जन करे, तत्त्वचिंतन करे, उदारता रक्खे, ये सब बातें की जाया करती है। हमारी भलाई के लिए मरण समय का जो एक सेकेण्ड है, उसमें कहीं कुछ गड़बड़ न हो जाए, संक्लेश न हो जाए, ज्ञानभावना से न डिग जाएँ, इतने प्रयोजन के लिए जीवनभर हमें सीखना पड़ता है, सीखना चाहिए। हम ज्ञानभावना में बहुत दत्तचित्त रहें।

इष्टसिद्धि में ताना भी कारण- मन्दसौर में एक श्रृंगारबाई नाम की महिला थी, वह बहुत प्रसिद्ध हो गयी। जब विवाह होकर अपने घर आयी तो जैसे पीहर में भी वह रोज कुछ न कुछ किसी पुस्तक का स्वाध्याय किया करती थी। वैसे थी तो मामूली पढ़ी लिखी, पर वह मन्दिर में दर्शन करने के बाद कोई पुस्तक उठाये और चौकी पर रखकर 10-5 मिनट बांचा करती थी। यह उसका रोज रोज का काम था। सो वहां जो बूढ़े आदमी दर्शन करने आएँ, वे नाम धरने लगे कि देखो आज की कुड़ियां, अभी 10 दिन हुए, विवाह होकर आयी और शास्त्र लेकर चौकी पर बैठ गयी। अब तो वह प्रतिदिन इसी प्रकार से करने लगी, दर्शन के बाद कोई शास्त्र लेकर बैठ जाए और पढ़े।

एक दिन गोम्मट्टसार ग्रन्थ लेकर बैठ गयी। सो अधिक अवस्था का एक जानकार आदमी जब देखता है कि यह बहू गोम्मट्टसार लिए बैठी है तो उसने ताना मारा कि देखो आज की बहूएँ अब यह गोम्मट्टसार पढ़ेंगी, पण्डितानी बनेंगी। यह बात उसके घर कर गयी।

उद्योग का फल- अब वह श्रृंगारबाई उदास होकर घर आयी तो उसका पति पूछता है कि क्या बात है, क्यों इतनी चिंता है? तो वह सारी बात बता देती है। कहती है कि मुझे लोग कहते हैं कि आज की कुड़ियां, बहूएँ गोम्मट्टसार पढ़ेंगी और पण्डितानी बनेंगी। तो मेरे मन में आया कि मैं गोम्मट्टसार के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करूँ। पति बोला कि यह कौनसी बड़ी बात है? तुम जितना चाहो, उतना समय अध्ययन में लगावो, सिर्फ इतनी सी बात है कि हमें रसोई बनानी नहीं आती, फिर भी कोई बात नहीं। झाड़ू, गोबर, बर्तन मांजने आदि के सारे काम हम कर लेंगे। तुम केवल रसोई बना दिया करो और जितना चाहे खूब पढ़ो। उसने उसको साहस दिया। उसने अध्ययन तीन चार वर्ष तक एक एक अक्षर धीरे धीरे पढ़कर भी कर डाला, क्योंकि अधिक पढ़ी लिखी न थी, मगर हिम्मत और साहस से थोड़ा ही थोड़ा रोज-रोज पढ़कर तीन चार वर्ष के बाद गोम्मट्टसार ग्रन्थ की इतनी बड़ी विदुषी हुई कि जिसको क्या कहा जाय? यह कोई 60 वर्ष पुरानी बात होगी। कहीं बहुत बड़ी सभा लगी थी, उस समय संसार के पंचपरिवर्तन के स्वरूप की चर्चा चली तो लोगों ने

कहा कि इस पंचपरिवर्तन के स्वरूप को तो विस्तार से श्रृंगारबाई ही बता सकती है। लोगों ने प्रेरणा की कि आप उसकी चर्चा सुनाएँ। तो उस श्रृंगारबाई ने उतनी बड़ी सभा में घंटों तक उसकी चर्चा सुनायी।

सुयत्न के लिये प्रेरणा- तो उद्यम करने पर क्या नहीं आ सकता है? जिस प्रतिभा में इतनी योग्यता है कि हजारों और लाखों के व्यवसाय की रक्षा कर सके, आय रख सके, हिसाब रख सके उस प्रतिभा में क्या इस विद्या के ग्रहण करने की योग्यता नहीं है? है। हम एक प्रण से एक ज्ञानार्जन के लिए अधिकाधिक यत्नशील बनें और इस ज्ञान के अनुभव से अपने जीवन को सफल करें। फिर जो ज्ञान पायें उसको बिछुड़ने न दें। उसकी बार-बार भावना बनाएँ। ज्ञान के अनुभव से उत्पन्न हुए ज्ञान के अनुभव में जो आनन्द है वह आनन्द अन्यत्र कहीं है ही नहीं। ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको बनाकर अपने को कृतार्थ करें।

श्लोक 46

अचेतनमिदं दृश्यंदृश्यं चेतनं तत:।

क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यत:।।46।।

अभ्रान्ति की प्रयोजिका भावना- पूर्व श्लोक में यह बताया गया था कि यह जीव आत्मा के तत्त्व को जानता हुआ भी और सर्व से विविक्त ज्ञानमात्र की भावना करता हुआ भी पूर्वकालीन भ्रम के संस्कार से फिर से भ्रांति को प्राप्त होता है। यह जीव पुन: भ्रांति को प्राप्त न हो, एतदर्थज्ञान जग जाने पर हम ज्ञानमयी भावना ही बनाएँ, ऐसी स्थिति लाने के लिए इसमें कुछ भावना बतायी जा रही है। यह दृश्यमान सारा विश्व अचेतन है और जो चेतन है वह अदृश्य है। दृश्यमान् अचेतन में रोष तोष क्या करूँ, चेतन अदृश्य है उसमें रोष तोष क्या कैसे करूँ? इस कारण में तो मध्यस्थ होता हूं।

दृश्यमान् की अचेतनता- जो-जो आंखों दिखता है- नाम लेते जावो आंखों क्या दिखता है? 6 काय, चाहे जीव सहित हो, चाहे जीव रहित हो अर्थात् 6 कायपृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस अथवा जीवत्यक्त– 6 काय ये दिख रहे हैं। इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं दिख रहा है। ये ईंट पत्थर दिख रहे हैं, ये जीवत्यक्त पृथ्वीकाय हैं, ये पहिले पृथ्वीजीव के शरीर थे, इनमें जीव था, पर इन जीवों ने छोड़ दिया है इन स्थानों को और जो काठ कुर्सी मेज आदि दिख रहे हैं- ये भी जीवत्यक्त वनस्पतिकाय है। जो कुछ भी दिखते हैं वे सब अचेतन हैं। जिस काल में जीव भी हो, इन शरीरों में उस काल में भी शरीर है वह तो अचेतन है और शरीर में रहने वाला जीव चेतन है। यह सारा दृश्यमान् लोक अचेतन है।

चेतन की अदृश्यता- जो चेतन है वह अदृश्य है, ज्ञानमात्र आनन्द घन भावस्वरूप यह चेतन तत्त्व न आंखों दिखता है, न किसी इन्द्रिय द्वारा गम्य है। इन्द्रिय की बात तो दूर ही रहो, मन के द्वारा भी गम्य नहीं है, साक्षात् सीधा आत्मस्वभाव में अनुभव होता है, मिलन होता है, परिचय होता है तो वहां मन का काम नहीं

रहता। यह मन उपयोग में आत्मदेव के निकट यों समझिये कि आँगन तक तो भेज देता है, इससे आगे जहां यह ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व जिस भाव में विराज रहा है वह सहज भाव वहां तक मन की गति नहीं है। वहां केवल यह आत्मा अपने ही बल से, पुरुषार्थ से स्वरसत: पहुंचता है, तो इन्द्रिय की तो कहानी ही क्या है? जो चेतन तत्त्व है वह अदृश्य है।

रोष तोष का अनवकाश- अब भला बतलावो जो दिखता है वह अचेतन है, जो चेतन है वह दिखता नहीं है। तो मैं किस चीज में रोष करूँ और किस चीज में तोष करूँ। अचेतन पदार्थों में रोष अथवा तोष करने से क्या फायदा है? वे तो अचेतन हैं। इन पत्थरों में रोष तोष करने से क्या लाभ है? अचेतन में तो नादान बच्चे ही रोष तोष करेंगे, किन्तु ज्ञानवान् पुरुष इन अचेतन पदार्थों में रोष तोष नहीं करता है। बच्चे के सिर में किवाड़ लग जाय तो बच्चा रोता है और मां उस बच्चे को दिखाकर समझाकर किवाड़ में दो चार थप्पड़ लगा देती है। तूने मेरे ललन को मारा अब वह ललन शांत हो जाता, संतुष्ट हो जाता। इन अचेतन पदार्थों के किसी भी परिणमन से बालक अगर रुष्ट हो जाय, तुष्ट हो जाय तो हो जाय पर ज्ञानीपुरुष इन अचेतन पदार्थों के कारण न तो रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है।

अचेतन पर रोषतोष के अनवकाश का कारण- कहां में रोष तोष करूं, ये अचेतन हैं, कुछ जानते ही नहीं हैं। गुस्सा करके इन्हें क्या मजा चखाया जा सकता है? गुस्सा आ जाय किवाड़ के ऊपर, आग लगा दो तो उसमें किवाड़ का क्या नुकसान है? आग लग गयी, खाक हो गया, उड़ गया सूक्ष्म स्कन्ध बन कर राख के रूप में, फिर भी उस किवाड़ को क्या नुकसान पहुंचा? दु:ख तो उसमें हुआ ही नहीं, क्योंकि वह अचेतन है, अपने को यह मालूम पड़े कि इस पर को दु:ख हो गया या यह राजी हो गया, तब ही तो अपने को रोष तोष करने की गुन्जाइश होगी, किन्तु अचेतन न दु:खी होता और न राजी होता। ये दृश्यमान् सब कुछ अचेतन हैं।

चेतन पर रोष तोष के अनवकाश का कारण- जो चेतन है वह दिखता नहीं है। रोष और तोष करने में गुन्जाइश चेतनतत्त्व में तो है वह जानेगा, इसमें राग करें तो वह सुखी होगा, दु:खी होगा, सुविधा देगा, सुख देगा, कुछ चेष्टा करेगा। निमित्तरूप सही लोक व्यवहार में कुछ चेतनतत्त्व में कौन रोष तोष में ठीक ठीक सोचता है कि यहां रोष करना चाहिए। संतोष करना चाहिए, वह चेतनतत्त्व तो अदृश्य ही है, आंखों दिखता ही नहीं है। जो जानते हैं उनके लिए यह सामान्य स्वरूप रह जाता है केवल निस्तरंग शुद्ध ज्ञायकस्वरूप। ऐसे उस अदृश्य प्रतिभासमात्र चेतन में भी कौन रोष करता है, कौन तोष करता है।

देही जीव पर भी रोष तोष का अनवकाश- भैया ! कोई पुरुष किसी दूसरे पर क्रोध करता है तो क्या यह ख्याल करके क्रोध करता है कि यह शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व है। इस पर मैं नाराज होऊं, क्रोध करूं। क्रोध करने वाला तो सीधा जो कुछ उसे नजर आये- ये नाक, आँख, कान आदि का पुतला उसे ही देखकर क्रोध करता है, सो वहां भी यह केवल शरीर पर क्रोध न कर सकेगा। कोई शरीर पर क्रोध करता हो तो मर जाने के बाद फिर भी उस शरीर पर क्रोध करना चाहिये। सो सच जानो आत्मा पर भी कोई क्रोध नहीं

करता। क्या कोई शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जान-जानकर कुछ क्रोध कर सकेगा? यदि वह लक्ष्य में आ गया तो उस क्रोध करने वाले का क्रोध तो वहीं शांत, हो गया। किस पर रोष करूँ और किस पर तोष करूँ? यह ज्ञानी जीव जिस भावना के प्रसाद से फिर भी भ्रान्ति को नहीं प्राप्त हो, कोई भ्रम का संस्कार नहीं हो, यों भ्रांति को प्राप्त न होने के लिए ऐसी भावना करता है। कहां रोष करूं कहां तोष करूं।

भ्रमजाल का अवस्तुत्व- भैया ! भ्रम ही और क्या है? कुछ इष्ट लग जाना, कुछ अनिष्ट जंच जाना ऐसी जो आत्मभूमिका में तरंग उठती है बस वही विभ्रम है, वही बेहोशी है। जैसे पागल पुरुष पागलपन में बेहोशी में कभी मां को स्त्री कह दे, कभी स्त्री को मां कह दे और कभी मां को मां भी कह दे तो भी वह पागलपन में कह रहा है, समझकर नहीं कह रहा है। ऐसे ही जगत् के समस्त पदार्थ न इष्ट हैं, न अनिष्ट हैं, किन्तु यह मोही पागल उन्मत्त हो रहा है। जिसे अपने आत्मस्वरूप की खबर नहीं है वह किसी पदार्थ को तो इष्ट मान लेता है और किसी पदार्थ को अनिष्ट मान लेता है, बस यही है उसकी मूर्छा, बेहोशी, विभ्रम। रोष और तोष करने के लायक जगत् में कुछ है ही नहीं। अचेतन में रोष तोष से लाभ नहीं होता, यदि चेतन का लक्ष्य होता तो रोष और तोष का परिणाम ही नहीं बनता। मैं किस पर रोष करूँ और किस पर तोष करूँ?

माध्यस्थ्यभावना- अब यह मैं आत्मा मध्यस्थ होता हूं अर्थात् न हर्ष करता हूं और न विषाद करता हूं, केवल उनका जाननहार रहता हूं। जो पुरुष केवल जाननहार ही रहे। बस देख लिया, यहीं तक सीमित रहे, किसी पदार्थ की बुद्धि में न फंसे न बोले तो वह पुरुष बन्धन से दूर होता है और अलिप्त रहता है।

बोलने से साधु की विवूचन- एक राजा जंगल में साधु के पास बैठ गया। साधु की समाधि खुली तो राजा निवेदन करता है कि महाराज, मेरे कोई पुत्र नहीं है, आशीर्वाद दीजिए। साधु कहता है कि तथास्तु, ऐसा ही होगा। अब राजा तो घर चला आया। कुछ दिन बाद साधु को ख्याल हो आया कि राजा को वचन दिया था कि पुत्र हो जाएगा, देखें तो संसार में इस समय कोई मर तो नहीं रहा। मरता हो तो उसे रानी के उदर में भिजवाऊँ। कोई नहीं मर रहा था। सोचा कि ओह, कहीं मेरे वचन झूठ न हो जायें, चलें खुद ही मर जायें और रानी के पेट में चलें। सो साधु खुद मरा और रानी के उदर में पहुंचा। पेट में बहुत दुःख हैं, संकुचित शरीर से रहना पड़ता है। सो वही तय कर लिया कि हम बोल गये थे राजा से, सो फंस गये। लेकिन अब उदर से निकलने पर कभी बोलूँगा नहीं, बोलना बुरा है। उस राजा से बोल गया तथास्तु, तो मैं फंस गया। तो जब उत्पन्न हुआ तो बोले नहीं। 8-9 वर्ष का हो गया, गूंगा ही रहा। राजा ने घोषणा करा दी कि जो मेरे राजपुत्र को बोलता कर देगा, उसे बहुत सा इनाम मिलेगा।

बोलने से चिड़िया व चिड़ीमार की विवूचन- अब कुछ दिन बाद वह राजपुत्र बाग में घूम रहा था। उसी बाग में एक चिड़ीमार चिड़िया को पकड़ने के लिए अपना जाल बिछाए हुए था। उस जाल को समेटने लगा, जब कोई चिड़िया न दिखी। उसने जाल समेटकर घर जाने का इरादा किया, इतने में एक चिड़िया बोल गयी, सोचा कि अभी चिड़िया है, फिर जाल फैलाया, कुछ दाने बिखेर दिए, फिर छिप गया। चिड़िया

आकर उस जाल में फंस गयी। यह सब दृश्य राजपुत्र देख रहा था, उससे न रहा गया, वह बोल गया, जो बोले सो फंसे। अब राजपुत्र के मुख से इतने शब्द निकलते ही चिड़ीमार के हर्ष का ठिकाना न रहा।

अब वह उस जाल को वहीं छोड़कर सीधा राजा के पास पहुंचा और बोला कि महाराज ! आपका पुत्र बोलता है। राजा ने कहा कि बोलता है? चिड़ीमार ने कहा कि हां बोलता है। अब राजा ने उसे 5 गांव इनाम में दिए। अब आया राजपुत्र। उससे राजा ने कहा कि बोलो बेटा कुछ। वह काहे को बोले? गूंगा का गूंगा। राजा को गुस्सा आया कि चिड़ीमार भी हमसे हंसी मजाक करते हैं। अब उस चिड़ीमार को फांसी का हुक्म दे दिया।

बोले सो फंसे का विवरण- अब चिड़ीमार फांसी के तख्त पर लटकाया जाने वाला था। राजा ने उससे पूछा कि तुम कुछ चाहते हो? चिड़ीमार बोला कि महाराज ! मैं आपके लड़के से 2 मिनट बात करना चाहता हूं। अच्छा कर लो भाई। चिड़ीमार कहता है कि राजपुत्र ! मुझे मरने का अफसोस नहीं, किन्तु अफसोस हमें इस बात का है कि लोग यह कहेंगे कि चिड़ीमार ने झूठ बोला था, इससे फांसी पर लटकाया गया। तुम और अधिक नहीं तो उतनी ही बात कह दो, जितनी बात तुमने बाग में कही थी।

अब राजपुत्र ने उतनी ही बात क्या, सारी कहानी सुना दी। मैं पहिले साधु था, वहां राजा से बोल गया, सो फंस गया, फिर बाद में चिड़िया बोल गयी, सो वह फंस गयी, फिर यह चिड़ीमार राजा से बोल गया, सो यह फंस गया। इसको फांसी का हुक्म हुआ। इसलिए जो बोले वह फंस जाए। राजा ने अपने पुत्र को बोलता हुआ देख लिया, फिर तो चिड़ीमार को फांसी से उतार दिया।

स्वरूप की अबद्धता और बाह्यदृष्टि का बन्धन:- भैया ! यह जगत् है, इसमें केवल देखे जाने इतने में तो सार है, किन्तु यहां बोले, इष्ट और अनिष्ट परिणाम करे तो उससे अवश्य फंस जाएगा। ये हम सब आप किस बात में परेशान हैं? यह बताओ। जान भी लिया धर्म का मर्म और स्वतन्त्र स्वतन्त्र सब जीव हैं- ऐसा पहिचान भी लिया, अपनी स्वतन्त्रता पर अपने को दृढ़ विश्वास भी है। काहे की परेशानी? लेकिन परेशानी सब पर है। छोड़कर भाग नहीं सकते, व्यवहार बन्धन लगा है, कहां जायें?

अभी हम ही चौमासे को छोड़कर कहीं भाग नहीं सकते। हम भी बन्धन में हैं। तुम घर को छोड़कर कहीं भाग नहीं सकते। तो बन्धन तो है, मगर बाह्यदृष्टि से उपयोग को ओझल करें और जरा अन्तर में प्रवेश करें तो जो बंधा है, वह बंधा रहे, शरीर बँधा है तो बँधा रहे, एक क्षेत्र में पड़े हैं तो पड़े रहें, किन्तु स्वतन्त्र अबद्ध प्रतिभासमात्र इस चित् प्रतिभास का जो अवलोकन करता है, वह कुछ भी बद्ध नहीं है, अबद्ध है।

भाव का प्रताप- भैया ! यह जीव भावों से ही तो बंधा है और भावों के बल से ही मुक्त है। जैसे शिखर पर फहराती हुई ध्वजा अपने आपके ही अंग से अपने में उलझ जाती है और अपने स्वरूप में विस्तृत अवयवों से सुलझ जाती है। हां, वहां पर वायु का बेढंगा चलना तो उसके उलझने में निमित्त और वायु के निमित्त का हट जाना उसके सुलझने का निमित्त है। इसी तरह हम आप जीव भावों से ही तो बँधे हैं और भावों से ही मुक्त हुवा करते हैं। हां उसमें निमित्त विधि का है, कर्म का है। देखो इस समय हवा नहीं है

और इसी के न होने से कुछ परेशानी अनुभव की जा रही है, ऐसी दृष्टि में भी जरासी हिम्मत करके बाह्यदृष्टि को त्याग करके मैं शरीर तक भी नहीं हूं, मैं केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, यदि बन सके ऐसा अनुभव तो कहीं भी गर्मी नहीं है।

जीव का वास्तविक बन्धन:- भैया ! ज्ञान के अनुभव में ठण्ड अथवा गर्मी लगी हुई है क्या? जैसे शरीर में आसक्ति होने पर शरीर में ठण्डी अथवा गरमी का अनुभव किया जाता है, इसी प्रकार राग और द्वेष के उत्पन्न करने में निमित्तभूत बाह्यपदार्थों के उदय होने पर जो रागतरंग उत्पन्न होती है, उसमें यह अज्ञानी जीव मैं रागी हूं- ऐसा अनुभव करता है या मैं द्वेषी हूं- ऐसा अनुभव करता है। अन्तर के सहजस्वभाव का परित्याग करके जो मायारूप हैं, वास्तविक सत् नहीं हैं, नैमित्तिक है, अतएव पर हैं, उनमें यह मैं हूं- ऐसा अनुभव किया तो यह इस जीव का दृढ़ बन्धन है।

माया का मायारूप बन्धन- घर का बन्धन बन्धन नहीं है, क्षेत्र का बन्धन बन्धन नहीं है, किन्तु अपनी आत्मभूमिका में कर्मोदय का निमित्त पाकर जो तरंग होती है, वह अपरमार्थ है, मायास्वरूप है, मेरा निजतत्त्व नहीं है। फिर भी उसे अपना लेना ही समस्त विषयों के बन्धन मूल है। किसी को इष्ट मान लेना, किसी को अनिष्ट मान लेना, बस यही बन्धन है और इस ही परिणाम पर रोष और तोष निर्भर होता है। मैं किस पर रोष करूँ और किस पर तोष करूँ? मैं तो अपने आपमें ही मध्यस्थ होता हूं।

मध्यस्थता का मर्म- मध्यस्थ किसे कहते हैं? जो न राग की ओर जाये और न द्वेष की ओर जाये। मध्यस्थ गवाह होता है। गवाह का दर्जा जज से भी बड़ा है, लेकिन स्वार्थ की करामात है कि गवाह डेढ़-डेढ़ रुपये में बन जाया करते हैं। गवाह कहो, साक्षी कहो, प्रभु का स्वरूप कहो, पक्षपात रहित कहो- एक बात है। गवाह किसी पुरुष का नहीं हुआ करता, किन्तु स्वरूप का, घटना का गवाह हुआ करता है, किन्तु न्यायालय ही उल्टी बात सिखा देता है। जज पूछता है वादी से अथवा प्रतिवादी से कि तुम्हारा गवाह कौन है? इसका अर्थ हुआ कि तुम्हारी जैसी जो कहे- ऐसा आदमी कौन है?

वह झट कह उठता है कि जज साहब ठहरो, मैं अभी पाँच मिनट में गवाह लाता हूं, मेरा गवाह बाहर है। वह झट बाहर गया और किसी भी देहाती को समझा दिया कि आप ऐसा कह देना और उसे डेढ़ दो रुपये दे दिये। वह देहाती अगर समझदार है, चतुर है, तब तो कह देगा और यदि जज ने और कुछ पूछ लिया व वह देहाती चतुर नहीं है तो कह देगा कि हमें इस सम्बन्ध में तो कुछ नहीं बताया, लो सारी बात बिगड़ जायेगी। होते हैं कोई ऐसे सरल लोग। जिनमें विकार न हो ऐसे पुरुष होते हैं। मध्यस्थ, साक्षी, दर्शी, ज्ञाता ये सब बहुत उत्कृष्ट तत्त्व हैं। मैं तो मध्यस्थ होता हूं।

श्लोक 47

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्ममात्मवित्।

नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः।।47।।

अज्ञानी और ज्ञानी के त्याग उपादान की चर्चा- पहिले श्लोक में यह बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष ऐसी भावना रखता है कि जितने दृश्यमान् पदार्थ हैं वे तो अचेतन हैं, सो अचेतन से रुष्ट तुष्ट होने से लाभ क्या है और जो चेतन है वह अदृश्य है, उससे रुष्ट और तुष्ट कैसे हुआ जाय? इस कारण यह मैं कहां रोष करूँ और कहां तोष करूँ, मैं तो मध्यस्थ होता हूं। जब रुष्ट और तुष्ट होने की भावना होती है तब बाह्य में त्याग और ग्रहण की प्रवृत्ति चलती है। जिसमें मन न भरा उसका त्याग कर दिया जाता है और जिसमें मन भरा उसको ग्रहण कर लिया जाता है। तथा जब रोष तोष मिटाने वाला ज्ञान जगता है तब अध्यात्म ग्रहण त्याग होता है। तो इस श्लोक में यह बता रहे हैं कि अज्ञानी जीव त्याग और ग्रहण कैसे करता है तथा ज्ञानी जीव त्याग और ग्रहण किस प्रकार करता है?

अज्ञानी के त्याग उपादान का भाव- अज्ञानी के पदार्थों में सम्बन्ध मानने का परिणाम हुआ है। इस कारण इन बाहर की बातों में ही त्याग करता है और बाहर ही बाहर ग्रहण करता है। मोही पुरुष घर का त्याग करे, वैभव का त्याग करे और त्याग करके खुश होवे कि मैंने त्याग कर दिया, मैं त्यागी हो गया हूं और धर्म के मार्ग में चल रहा हूं, किन्तु उस अज्ञानी को यह खबर नहीं है कि यह मैं आत्मा तो केवल ज्ञानानन्द मात्र हूं, इसमें किसी पर का प्रवेश नहीं है, ग्रहण ही नहीं है। यह किसी पर को ग्रहण नहीं कर सकता है, और फिर त्याग भी कैसे कर सकता है? जो चीज अपनी नहीं है उसमें त्याग का क्या व्यवहार? आप यदि दूसरे के घर को दान कर दें तो क्या यह कोई त्याग की सही पद्धति है? क्या हो जायेगा दान? तो जैसे जो चीज अपनी नहीं है उसका त्याग नहीं किया जा सकता, यों ही आत्मतत्त्व में देखिये मेरे आत्मा में घर चिपका नहीं है फिर घर का त्याग क्या? आत्मा की सावधानी रखकर सुनिये।

परवस्तु के अपनाने का अपराधी- श्रद्धा में तो बाह्य वस्तु को अज्ञानी ने अपना रक्खा है। मेरे घर में इतना वैभव है अथवा इतना ठाठ है, ऐसी इज्जत है और परमार्थ से है कुछ नहीं। केवल यह ज्ञायकस्वरूपमात्र है। तो भैया ! एक बात बता दोगे क्या कि जो परवस्तुयें हैं उनको जो अपनाये उसका नाम आपने क्या रक्खा है? चोर और ये अपने कुछ भी पदार्थ नहीं हैं जैसे ईंट, पत्थर, सोना, चाँदी, रत्न वैभव। मैं तो अपने आपके केवल ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु की तरह शुद्ध ज्ञानमात्र हूं और फिर कोई माने कि यह मेरा वैभव है तो परवस्तु को जो अपनाले तो उसका भी नाम क्या पड़ जाना चाहिए? अब तो उत्तर देने में आपकी जबान रुक रही है। पहिले तो बड़ी जल्दी कह दिया कि परवस्तु को जो अपना ले, अपनी बना ले अथवा पर के घर में रक्खी हुई चीज को उठाकर अपने घर ले आये उसका नाम चोर है, पर यही बात कहने में अब आपको कुछ रुकावट हो रही है। अरे जो परपदार्थ हैं, अपने आत्मा के स्वरूप नहीं हैं, असार जो धन वैभव, मकान, कुटुम्ब परिवार हैं, उनको जो जबरदस्ती अपना बना लें उसका भी नाम परमार्थ से क्या है? चोर है। वाह भाई अब तो डरकर बोल रहे हो।

कल्पनाओं का व्यर्थ बोझ- लेकिन जब सभी चोर हैं तो चोर-चोर एक दूसरे को बुरा कहें कैसे? और उसही चोरी की सीमा में व्यवस्था बौर कानून बन गए और राज्य शासन चल रहा है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से यह सारा जगत् चोरों से भरपूर है। अच्छा इस लोकव्यवहार के चोर ने दूसरे की चीज उठाकर क्या अपने आत्मा में धर ली? नहीं। वह चीज तो बाहर ही रक्खी हुई है। आत्मा में धरा नहीं जा सकता कोई भी परपदार्थ। यों ही जो अपना मानता है उसने क्या वैभव मकान आदिक को अपने में रख लिया? नहीं रख सकता है किसी भी चीज को। केवल कल्पना की जा रही है और कल्पनावों का इतना बड़ा बोझ अपने आप पर लादे हुए है।

धन की कल्पना से बड़े भाई की कुबुद्धि- दो भाई थे। वे समुद्र के उस पार किसी द्वीप में कमाने चले गए। बड़ा और छोटा भाई था। खूब कमाया धन और बाद में उस सारी कमाई को संक्षिप्त करके दो रत्न एक एक लाख रुपये के खरीद लिए। अब वे दोनों रत्नों को लेकर अपने घर के लिए चले तो समुद्र में जब जहाज में चल रहे थे तो दोनों रत्न थे बड़े भाई के पास। बड़ा भाई सोचता है कि इस समय यदि में छोटे भाई को ढकेल दूं समुद्र में तो दोनों रत्न मेरे हो जायेंगे और परिश्रम तो मैंने बहुत किया, यह तो केवल बातें ही करता रहा। फिर थोड़ी देर बाद सुध आयी अहो, यह रत्न बहुत बुरी चीज है, इसके पीछे मेरे कितने खोटे परिणाम हो रहे हैं, तो बोला भाई ! ये रत्न तुम अपने पास धर लो। छोटा भाई कहता है कि आप ही रक्खे रहिये, बड़ा कहता है कि नहीं मैं तो इन्हें अपने पास न रक्खूँगा।

धन की कल्पना से छोटे भाई की कुबुद्धि- अब बड़े भाई ने जबर्दस्ती उन दोनों रत्नों को छोटे भाई के पास रख दिया। थोड़ी देर बाद उस छोटे भाई की भी बुद्धि खराब हुई। उसके मन में आया कि ये दोनों रत्न कमाये तो हमने हैं और घर जाकर बँट जायेंगे, ऐसा करें कि समुद्र में बड़े भाई को ढकेल दें तो ये दोनों रत्न फिर हमें मिल जायेंगे। फिर सुध आयी ओह मैंने इन रत्नों के पीछे कितने खोटे परिणाम किए। वह बोला- भैया मैं इन्हें अपने पास न रक्खूँगा, आप ही इन्हें अपने पास रक्खें। बड़े भाई ने समझाया कि रक्खे रहो, घर तक तो ले चलो- छोटा भाई बोला मैं तो इन्हें अपने पास न रक्खूंगा, चाहे इन्हें समुद्र में फेंक दो।

धन की कल्पना से बहिन की कुबुद्धि- खैर किसी तरह घर पहुंचे तो दोनों भाईयों ने सोचा कि ये रत्न अपन तो रखते नहीं, बहिन के पास रख दें। बहिन से कहा तो बहिन ने अपने पास दोनों रत्न रख लिये। उस बहिन के भी खोटे भाव हो गये कि इन दोनों भाईयों को विष दे दें, ये मर जायेंगे तो ये दोनों रत्न मेरे हो जायेंगे। फिर सुध आयी, ओह यह मैं क्या कर रही हूं। ये दोनों ही रत्न बड़े खराब हैं, सो भाईयों से बोली कि मैं ये रत्न अपने पास न रक्खूंगी, इन्हें तुम जानो ये पड़े हैं।

धन की कल्पना से माता की कुबुद्धि- अब भाईयों ने सोचा कि चलो मां के पास रख दें। मां के पास रख दिये। मां बूढ़ी थी। बूढ़ापें में तृष्णा ज्यादा उपज है। उसने सोचा कि ये दोनों रत्न हम छिपाकर रख लेंगी तब तो हमारे बूढ़ापें में खूब सेवा होगी नहीं तो कौन पूछेगा? यह विचार कर उसने अपने पास रख लिये

और उन दोनों पुत्रों को मारने तक का भी सोच लिया। फिर सुध आयी तो कहा अरे बेटा, यह कहां से विष ले आये हो, जावो इन रत्नों को समुद्र में फेंक दो। ये किसी काम के नहीं हैं। आखिर वे रत्न समुद्र में फेंकने पड़े, तब शांति हुई।

व्यामोह से अविवेक का नाच- क्या है यह धन वैभव? व्यामोह में दूसरों के प्रति मन में क्या से क्या सुध बैठ जाती है? यह मोही जीव बाह्यपदार्थों में ही त्याग और ग्रहण की बुद्धि करता है, किन्तु जो अध्यात्मयोगी पुरुष हैं, आत्मा के मर्म के ज्ञाता पुरुष हैं वे ग्रहण और त्याग की बात अपने आत्मा के भीतर ही किया करते हैं। धन तो उसने ग्रहण किया ही नहीं तब उसका त्याग करना क्या? वह तो छूटा ही हुआ है, किन्तु धनविषयक जो मोह लगा रखा है, जो चक्की में धुन की तरह उसे पीसे डाल रहा है। उस राग और मोह का त्याग करता है। मोह का कितना कटुक नाच है कि विवेक अविवेक कुछ नहीं रहता है।

व्यामोह से भगत की कुबुद्धि- एक साधु महाराज ने चौमासा किया एक गांव के निकट जंगल में। एक श्रावक के मन में आया कि मैं इस चौमासे में साधु जी के पास रहूं। उसके घर का लड़का कपूत था। सो रत्न, हीरेजवाहरात, सोना-चाँदी कमाई की चीजें एक घड़े में भरकर जंगल में मुनि महाराज जहां ठहरे थे, वहीं एक गड्ढा खोदकर घड़े को दबा दिया। और चौमासा पूर्ण होने के बाद साधु तो चले गये, अब इतने में ही वह घड़ा भी गायब हो गया। हुआ क्या, यह बाद में बतावेंगे। अब यह श्रावक दूसरे गांव में साधु के पास पहुंचा और वहां ऐसी कहानी कही कि जिसमें यह बात भरी थी कि महाराज ! हमने तो चार महीने आपकी सेवा की और तुमने हमारा ग्यारहवां प्राण हर लिया। साधु उत्तर में ऐसी कहानी कहे कि बात कुछ और हुई है और तुम व्यर्थ ही धर्मात्माजनों पर शक करते हो। 7-8 कहानी सेठ (श्रावक) ने कही और 7-8 कहानी उसके उत्तर में साधु ने कही। सेठ सब व्यर्थ समझता जाये और साधु भी सब अर्थ समझता जाये।

असाधु के भी साधुता का उद्गमः- यह सब देख सुन रहा था सेठ का कपूत लड़का। उसके मन में इतना वैराग्य आया कि ओह इस धन वैभव के पीछे हमारे पिता धर्मात्मा साधु संतों पर ऐब लगा रहे हैं, वह बोला कि पिताजी, वह घड़ा मैं उठा लाया। मैंने तुम्हें इसे गाड़ते हुए देख लिया था, मौका पाकर मैं निकाल ले गया था। अब वह सारा धन आपका है, घर में आप रहें, मैं घर में अब पैर न रक्खूँगा। इस अपार संसार में धोखे से मेरे छलपूर्ण जगत् में अब क्या रहना? विरक्त हो गया और वह साधु बन गया।

ज्ञानी का त्यागोपादानविषयक विचार- तो आप देखो कि इस संसार में धन वैभव के व्यामोह में लोग कितना न्यौछावर होते जा रहे हैं? उसमें कौनसी आत्महित करने की कला पड़ी हुई है? ज्ञानीपुरुष जानता है कि बाहरी पदार्थ तो अत्यन्त भिन्न है, उनका मैं त्याग और ग्रहण कर ही नहीं सकता, केवल उन बाह्यपदार्थविषयक अपनी कल्पनाएँ बनाता ही रहता हूं। सो मैं उन रागद्वेष से भरी हुई कल्पनाओं को त्यागूँ और शुद्ध ज्ञानस्वरूप का ग्रहण करूँ। यही त्याग और ग्रहण करने योग्य तत्त्व है। उसका त्याग करना है, जिसको ग्रहण किये हुये हैं व जिसके कारण बड़ी बुरी तरह से बरबाद हुये चले जा रहे हैं। किसका त्याग करें? अहंकार और ममता का त्याग करें।

आत्मवेदी और निष्ठितात्मा का त्याग और उपादान- भैया ! जो पुरुष सम्यग्ज्ञान के बल से समस्त बाह्यपदार्थों से भिन्न ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनुभव करता है, उसने जो पाया उससे उत्कृष्ट इस लोक में कहीं कुछ है ही नहीं। अध्यात्मयोगी संत अपने आपमें कुछ का त्याग करते हैं और किसी तत्त्व का ग्रहण करते हैं। ऐसे ये दो तरह के अभी पुरुष हुए। कौन कौन? मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्दृष्टि जीव। यहां अभी ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष बताया है जो अभी ज्ञानयोग में अभ्यास करता चला जा रहा है। अब तीसरे पुरुष की कहानी सुनो-

जो ज्ञानयोग में पूर्ण अभ्यस्त हो गया है, उसके लिए न बाहर में कुछ त्याग करना है और न बाहर में कुछ ग्रहण करना है तथा न अन्तरंग में कुछ त्याग करना है और न अन्तरंग में कुछ ग्रहण करना है। वह तो निष्ठितात्मा हो गया है, कृत्कृत्य हो गया। मोह से बढ़कर जगत् में विपदा नहीं है। विपदा और कुछ है ही नहीं। सिवाय मोह और रागद्वेष के इस जीव में कोई झंझट है ही नहीं।

सम्बोध्यों को सम्बोधन- ये बाह्यदृष्टि वाले मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव बाह्यपदार्थों को छोड़ते हैं और ग्रहण करते हैं। मैंने घर छोड़ दिया। अरे घर को ग्रहण कब किया था, जो छोड़ा कह रहा है। यह कह कि मैंने छोड़ दी घर की ममता। ममता छोड़ दोगे तो घर छूट ही जाएगा। घर को छोड़ने में तू समर्थ नहीं है और न घर ग्रहण करने में तू समर्थ है, एक अपने विभावों को तू ग्रहण किया करता है और विभावों को ही छोड़ा करता है। देख लो- अपने आपमें अपने आपका नंगा स्वरूप। बाहर में कहां नग्न साधु को देख रहे हो? वह तो परमेष्ठी है ही, वह अपने आपमें सदा जो नग्नस्वरूप रहता है, केवल निजस्वरूपमात्र पर के सम्बन्ध से रहित ऐसे इस आत्मतत्त्व को तो देखो कि यह अपने सत्त्वमात्र है, इसकी जिसे रुचि हो गई है, वह पुरुष कृतार्थ हो गया है।

आत्मवेदी की वृत्ति- जिसको आत्मतत्त्व की रुचि जग चुकी है, वह बाहर में अपना सम्मान और अपमान नहीं समझता है। ओह सारा जहान भी मुझे बहकाये अथवा निन्दाभरी बात बोले तो भी यहां कुछ परिणमन होता ही नहीं है। वे सब मायारूप हैं। जो कहते हैं कहें। मैं तो अपने स्वरूपमात्र हूं। क्या छोड़ना है? अपने आपमें अज्ञान जो बस रहा है, उसे त्यागना है। रागद्वेष जो बस रहे हैं, उसे त्यागना है। बाह्यपदार्थ तो सब धूल हैं। मुग्धप्राणी धूल में मस्त हो रहे हैं। अरे इस बाह्यधूल की ममता से इस चैतन्य आत्मा का क्या लाभ होगा? कुछ तो सोचो। मिला है कुछ और होता है उससे उपकार दूसरों का। तो दूसरों का उपकार करने की उदारवृत्ति रखो। इस उदारवृत्ति से इस जीवनकाल में बहुत अधिक लाभ मिलेगा। सम्यग्ज्ञान रखो-

पुत्र कपूत तो क्या धन संचे,
पुत्र सपूत तो क्या धन संचे।

अज्ञानी का बेकायदा अट्टसट्ट व्यामोह- जगत् के इन अनन्त जीवों में से बसने वाले दो चार जीवों को इतना महत्त्व दे दिया है कि तराजू के दो पलड़ों पर एक में आपके घर के दो चार आदमी बैठ जायें और दूसरे पलड़े में सारे जगत् के जीव बैठा दिये जायें तो भी आपके लिये अपने घर के दो चार जीवों का ही पलड़ा भारी होता है। ओह इन दो चार जीवों के बराबर भी जान क्या जगत् के इन अनन्त जीवों में नहीं है? कितना मोह का अन्धकार पड़ा हुआ है जीवों में कि उन्हें आत्मस्वरूप का भान नहीं होता। कौन पराया है और कौन अपना है? जिन्हें पराया मानते हो, वे यदि आपके घर में पैदा हो गये होते तो उन्हें अपना मानते। तुम्हारा मानना तो अटसट है, कोई कानून की विधि से नहीं है। जो भी अपने सामने आ जाए, उसे मान लिया कि मेरा है। यह बहिरात्मा पुरुष बाह्यपदार्थों में ही त्याग और ग्रहण का विकल्प किया करता है।

संतों के उपदेश के धारण में ही जीवन का यथार्थ मूल्य- यह सब आचार्य ऋषि संतों की वाणी है, उनका उपदेश है। ग्रहण कर लिया जाय तो भला ही है और न ग्रहण किया जाय तो समय तो गुजर ही रहा है। एक बार कोई स्वर्णकार दो पुतलियां पीतल की बिल्कुल एकसी बनाकर राजदरबार में पहुंचा। वहां जाकर स्वर्णकार कहता है कि इन पुतलियों को कोई खरीदना चाहे तो खरीद ले। एक पुतली का मूल्य तो है एक लाख रुपया और एक पुतली का मूल्य है एक रुपया। लोगों ने सोचा कि दोनों ही पुतलियां एक समान हैं लेकिन एक का मूल्य एक लाख रुपया बता रहा है और एक का मूल्य 1 रुपया बता रहा है। लोग बहुत हैरान हो गये। आखिर में राजा बोला कि ऐ स्वर्णकार ! अब तेरी कला का यहां कोई पहिचानने वाला नहीं है, तू ही बता कि एक पुतली एक लाख की और एक पुतली एक रुपये की क्यों है? तो स्वर्णकार एक पुतली के कान में एक सींक डालता है और दूसरे कान से निकाल लेता है और एक पुतली के एक कान में सींक डालता है तो वह सींक गले से पेट में उतर जाती है। कहता है स्वर्णकार कि देखो यह पुतली यह शिक्षा दे रही है कि जो सुनो वह हृदय में उतारो और यह एक पुतली यह बता रही है कि इस कान से सुनो और इस कान से निकाल दो। इसीलिए इन दोनों के मूल्य में इतना बड़ा अन्तर है।

अध्यात्मप्रयोग का अवग्रह- भैया ! यह अध्यात्मयोग की बात केवल सुन ली जाने की नहीं है, इससे लाभ कुछ न होगा। कुछ हिम्मत करो, साहस बनावो कि इस ममता डाइन को दूर करें। क्यों व्यर्थ की परेशानियां सही जा रही हैं? एक भीतर में केवल भाव ही तो बदलना है। सबसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र अपने आपको ही तो निहारना है। क्यों नहीं किया जाता इतना स्वाधीन सुगम कार्य? अभ्यास करते-करते सब बातें सरल हो जाती हैं। कम से कम यह तो अपने आपमें निर्णय बना लो कि बात यह सत्य है और इस ही मार्ग पर मुझे चलना है। छोटे बच्चों में, नातियों में, पोतियों में इतना मोह बसा-बसाकर क्या प्रोग्राम बना रहे हो, कुछ हमें भी तो सुना दो। अपने मन में ही प्रोग्राम बनाये जा रहे हो, कुछ लोगों को भी तो बता दो।

व्यामोह के परिणाम का परिणाम- लोग किसी वृद्ध पुरुष के मरने पर कहते हैं कि सोने की सैनी बना दो और उसे चिता के साथ रख दो। क्यों भाई? वह उस सैनी पर चढ़कर स्वर्ग जायेगा। पर यह तो बतावो कि जिस बूढ़े ने लड़कों में मोह बसाया है, लड़कों के लड़कों में मोह बसाया और उसके भी लड़कों में मोह बसाया है, चार पीढ़ी के मोह में जिसने जीवन खो दिया है वह पुरुष उस सैनी का उपयोग चढ़ने में ही

करेगा या उतरने में? क्या उस सैनी का उपयोग उतरने में नहीं हो सकता? बतावो। उसे चढ़ा करके जितनी दूर भेजना चाहते हो उतना ही उतर करके भी वह नीचे पहुंच सकता है। छोड़ों विकल्पजाल को। अपने आप पर कुछ तो दया करो, ममता से सर्वथा नाता तोड़ों।

त्यागोपादानविषयक त्रिविध पदवियां- यहां तीन तरह के जीव बताये हैं। मोही जीव तो बाह्यपदार्थों में त्याग और ग्रहण की खटपट किया करता है और ज्ञानीपुरुष अपने आपके आत्मा में ही रागद्वेष को छोड़ने की और ज्ञानभावना को पकड़ने की कोशिश किया करता है, किन्तु जो निष्ठितात्मा है, ज्ञानी है वह न बाहर में कुछ ग्रहण और त्याग करता है, न अन्तर में ही कुछ ग्रहण और त्याग करता है। वह तो मात्र ज्ञाता दृष्टा रहा करता है।

त्रिविध आत्मा- जो जीव बाह्यपदार्थों में ही त्याग करने और ग्रहण करने का यत्न करते हैं उन्हें क्या कहते हैं? मिथ्यादृष्टि जीव और जो अपने आत्मा में कुछ ग्रहण करने का और कुछ के त्याग करने का यत्न करते हैं उन्हें क्या कहते हैं- अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव। जो न बाहर के पदार्थों में त्याग अथवा ग्रहण करने का विकल्प करते हैं और न अपने आत्मा में कुछ त्याग करने और कुछ ग्रहण करने का विकल्प करते है उन्हें क्या कहते हैं- परमात्मा अथवा सिद्धयोगी या निष्ठितात्मा। अब इन तीनों में पहिचानते जाइये निराकुलता की डिगरियां। अज्ञानी जीव को त्याग करने में भी आकुलता है और ग्रहण करने में भी आकुलता है।

अज्ञानपूर्वक त्याग से स्वपरविपदा- अज्ञानी बहिरात्मा पुरुष ग्रहण करता है वहां तो विपदा में है ही, पर वह छोड़ दे कुछ तो अपने को भी विपदा में डालता है और दूसरे को भी विपदा में डालता है। कोई अज्ञानी पुरुष घर गृहस्थी का त्याग करता तो वह दूसरों को भी दु:खी कर डालता है अपने को तो दु:खी करता ही है। अज्ञानी को कहां शांति है? ग्रहण करे तो अशांति, त्याग करे तो अशांति। अज्ञानी पुरुष किसी वस्तु का ग्रहण करता रहे तो खुद अशांत रहेगा, दूसरों पर भी अच्छा असर न पड़ेगा। अज्ञानी पुरुष यदि त्याग कर बैठे तो समाज के लोग भी उससे परेशान हो जायेंगे, अपने को तो वह दु:खी करेगा ही। यह है अज्ञानियों के त्याग और ग्रहण की स्थिति।

अन्तरात्मा द्वारा ग्रहण और त्याग- अब ज्ञानाभ्यास रखने वाले अन्तरात्मावों की बात देखो। वे बाहर में त्याग करने और ग्रहण करने की वृत्ति नहीं रखते, किन्तु अपने आपमें ही खोजते हैं कि मुझे त्याग करना है रागद्वेष मोह-भावों का और मुझे ग्रहण करना है उस ज्ञानदर्शन सहज स्वभाव का। इस तरह के अन्तर के यत्न में, जल्प में, विकल्प में कुछ आकुलता बसी हुई है, अन्यथा इतना परिवर्तन क्यों मचाता? क्रांति वही करता है जिसको किसी प्रकार की अशांति हो। यह आत्मक्रांति की बात है।

निष्ठितात्मा की त्यागग्रहणविषयक वृत्ति- तीसरा आत्मा देखो- जो कृतार्थ है, पूर्ण निष्पन्न है, ऐसा निष्ठितात्मा प्रभु परमात्मा अथवा उत्कृष्ट ध्यान में पहुंचे हुए योगी पुरुष श्रेणी में रहने वाले साधुजन, उनके न आत्मा में त्याग करने, ग्रहण करने का विकल्प होता है और न बाह्य में त्याग और ग्रहण करने का विकल्प

होता है। सबसे अच्छे कौन रहे? जिन्हें न भीतर कुछ छोड़ना ग्रहण करना है, न बाहर कुछ छोड़ना ग्रहण करना है।

अब ऐसी उत्कृष्ट असीम अवस्था को यह आत्मा कैसे प्राप्त करे? इसके समाधान में अब पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं।

श्लोक 48

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।

मनसा व्यवहारं तु त्यचेद्वाक्काययोजितम् ।।48।।

क्लेशशून्य आत्मतत्त्व में मन के संयोजन का संकेत- प्रथम तो अपने आत्मा को मन के साथ संयोजित करो अर्थात् चित्त और आत्मा का अभेदरूप से अध्यवसान करके अन्त:प्रवेश करो या सीधा यों कहो कि मन को आत्मा में लगावो। इस जीव को रंच कहीं भी क्लेश नहीं है। कहां क्लेश है? यह तो ज्ञानमय है, आनन्दस्वभावी है। जैसा सिद्ध प्रभु का आंतरिक ठाठ है वही ठाठ यहां भी अंतरंग में है। रंच भी क्लेश की बात नहीं है। सर्वपदार्थ अपने-अपने स्वरूप में सम्राट् हैं, बादशाह हैं। कोई किसी के अधीन नहीं। किसी का किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं। कौन दु:खी है, क्या दु:ख है, एक को भी दु:ख नहीं है। अब स्वप्न की तरह दिखने वाली इस दुनिया में मैं कुछ होऊँ, मेरी पोजीशन यथावत् रहे, मैं यहां कुछ कहलाऊं, ऐसी जो दृष्टि बनती है, ऐसी दृष्टि से आसक्ति के पहाड़ आ गिरते हैं, यह अहितकारी दृष्टि बनती है शरीर को आत्मा समझने पर। ये क्लेश बाहर से नहीं आते हैं, किन्तु यह जीव कल्पनाएं बनाकर स्वयं दु:खी हो रहा है।

संकटहारिणी मूल औषधि- भैया ! किसी भी प्रकार की घबड़ाहट हो, किसी भी प्रकार की चिंता हो, सबकी मूल औषधि एक है अपने आपका जैसा सबसे न्यारा ज्ञानमात्र स्वरूप है, वैसा समझने में लग जावो मैं सबसे न्यारा हूं, इस मुझ अमूर्त तत्त्व को कोई जानता ही नहीं है, यह किसी के द्वारा अलग से जानने योग्य ही नहीं है। यह तो सब स्वरूप में एकरस एकस्वरूप है। इसमें भेद नहीं है। मुझे कौन पहिचानता है? ज्ञानयोग ही एक अमृततत्त्व है, ज्ञान का ही एक सर्वत्र प्रताप है और कोई प्रताप प्रताप ही नहीं है। ज्ञान से ही यह प्राणी सुखी होता है, ज्ञान से ही यह लोक में पूजित होता है, ज्ञान से ही यह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जाने और ज्ञानमात्र ही मैं हूं- ऐसा अपने आपके बारे में अनुभव करे, वह है वास्तविक ज्ञान।

जो ज्ञान अपने को नानारूप माने- मैं अमुक लाल हूं, अमुक चन्द हूं, अमुक प्रसाद हूं, अपने को नानारूप माने और जो देह है, उस देह में ही यह मैं हूं- ऐसा परिणाम बनाए तो वह कहीं भी जाये, सुखी नहीं रह सकता है, क्योंकि दु:ख का जिससे सम्बन्ध है, वह काम छोड़े, तब जाकर सुखी होगा।

निज के एकत्व के प्रत्यय की आवश्यकता- भैया ! सुखी होना है तो एक अपने उस एकत्वस्वरूप को देखो। समयसारग्रन्थ में जब नमस्कार विधि करके संकल्प किया, मैं क्या करना चाहता हूं, तो बताया है कि मैं एकत्वविभक्त आत्मा को दिखाऊँगा। पूरे समयसार में उसके वर्णन का प्रयोजन है सबसे न्यारे ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को समझाने का। तो समझ लो इस वास्तविक औषधि का जब चाहे प्रयोग करो, हिम्मत बनाओ। हिम्मत बनानी ही पड़ेगी, किसी भी तरह की हिम्मत बनाओ। मरण के समय सब कुछ छोड़कर जाना ही होगा। जब मरते समय सब कुछ छूटता हुआ देख रहे हैं, उस समय भी हिम्मत बनानी पड़ेगी। बनाते ही हैं। जब छोड़कर जा रहे हैं, लाचार हो जाते हैं, संग कुछ जाता नहीं है। हिम्मत बनाता है कि नहीं बनाता है मरने वाला? यदि कुछ हिम्मत जीती अवस्था में ही बना ली जाये कि मेरा कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र यह निजस्वरूप है, ऐसी हिम्मत बना ली जाये तो जीवित अवस्था में भी कुछ शांति तो रहेगी।

शांति का कारण सम्बन्धविच्छेद- अशांति का कारण तो परवस्तु में अपना सम्बन्ध मानना है। इसके अर्थ सर्वप्रथम उपाय करो कि मन को संयोजित करो। फिर इस ज्ञान द्वारा इस आत्मतत्त्व को जानते रहो और वचन तथा काय से इसको अलग करो। अपने साथ तीन तत्त्व मन, वचन और काय लगे हैं। इनसे निकट सम्बन्ध मन का है, फिर उसके बाद का सम्बन्ध वचन और काय का है। सर्वप्रथम वचन और काय से अपने को न्यारा जान लो और आत्मा को छोड़ों। वहां पर भेदज्ञान करो। वचन और काय को आत्मा न समझो और जो मन भावज्ञानरूप है, उस मन को आत्मा में जोड़ दो, आत्मा के स्वरूप के परिज्ञान में मन को लगा दो। पहिले यह काम करना है, फिर वचन तथा काय से किए हुए व्यवहार को मन से छोड़ देवो।

क्या करना है ज्ञानीपुरुष को? अन्तरंग में रागादिक विभावों का त्याग करना है और आत्मा के गुणों का त्याग करना है। इस प्रयोजन के लिए क्या करना चाहिये? आत्मा को मानस ज्ञान के साथ तन्मय करना और फिर वचन और काय से किये गये सर्वकार्यों को छोड़कर आत्मचिंतन में तल्लीन होना।

ज्ञान की प्रवृत्ति में उदासीनता- ऐसा ज्ञानी पुरुष कभी प्रयोजनवश किसी बाह्यकाम में लगता है तो उदासीनभाव से, अरुचिपूर्वक किसी रोगी के दवा पीने की तरह किया करता है। कोई रईस आदमी रोगी हो जाए तो कितने आराम में उसे रक्खा जाता है? बहुत बढ़िया सुगंधित साफ सुथरे कमरे में बड़े आराम से रक्खा जाता है, दसों आदमी बड़े प्रेम से बोलते हैं, खूब खबर लेते हैं और उसकी कुछ आज्ञा भी मानते हैं- ऐसा रोगी पुरुष बड़े आराम से पड़ा हुआ है। वह औषधि भी करता है। समय पर औषधि न मिले तो उस औषधि के लिये क्षोभ भी करता है- क्यों नहीं समय पर दवा लाये? पर यह तो बताओ कि क्या उस रोगी के मन में यह बात है कि मैं ऐसे ही आराम से जीवन भर रहूं? यद्यपि उसके आराम में कोई बाधा आ जाए तो वह उस पर विवाद करता है, इतने पर भी उसके मन में यह नहीं है कि मेरे को ऐसा सजा कमरा, ऐसा सुन्दर पलंग, ऐसी दवा जिन्दगी भर मिलती रहे।

उसकी तो यह भावना है कि मैं कब दो मील दौड़ने लगूँ, परिश्रम करने लगूँ, यह मेरी दवा कब छूटे- ऐसी उसकी भावना रहती है। इस भावना के साथ साथ वह अरुचिपूर्वक उन सब कार्यों को करता है। यों ही

ज्ञानी गृहस्थ जिसे यह निर्णीत हो चुका है कि मेरा कल्याण मेरे आत्मा के दर्शन में है- ऐसे निर्णय वाले ज्ञानी गृहस्थ को बाहर में कुछ करना पड़ता है, कमाने के, दुकान के, परिवार के, सेवा के और पोषण आदि के समस्त कार्यों में लगना पड़ता ही है, फिर भी वह कभी भी अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता है।

सहजकला- एक कोई हंस जंगल में फिरता हुआ सरोवर के निकट रहता हुआ बड़ी सुन्दर चाल से चल रहा था। एक पुरुष को उस हंस की चाल बहुत पसन्द आयी तो वह उस हंस को पकड़कर घर ले आया और उसे मोती चुगाने लगा और बड़ा मिष्ट उसके योग्य आहार देने लगा। खूब उसे सुख से रक्खा। फिर एक दिन वह पुरुष बोला कि हे हंसराज ! जैसी चाल तुम उस सरोवर के तीर पर चल रहे थे, वैसी चाल हमें फिर दिखा दो। हंस ने कहा कि वह चाल तो उसी जगह की थी। यहां तुम्हारे निकट बनावटी चाल करें तो वह बात नहीं आ सकती है।

जो आत्मा स्वतन्त्र निजस्वरूप को देखकर अपने आपके आत्मवन में विहार और विलास करता है, रमण करता है और जो शाश्वत सहजआनन्द प्राप्त करता है, वह अनुभवन किसी भी बनावट में, किसी भी संसर्ग में, किसी अन्य की शरण में आ नहीं सकता है। इस ज्ञानी संत गृहस्थ को अपनी आत्मभूमिका में अपने सहजस्वरूप के अवलोकन का आनन्द जग गया है। अब उसे बाहर में किसी पदार्थ में अपना मन नहीं लगाना है।

दुर्विलास का परिहार- यह हितमय अपनी बात जिस गृहस्थ संत में हो जाये, उसका भला है। ये डेढ़ दिन के जीने वाले लोग कुछ भला कह दें, कुछ अच्छा कह दें, इनमें मैं कुछ जंच जाऊँ, यह जिसके दिमाग में भर गया है, उसको कहीं सारतत्त्व नजर नहीं आ सकता है। परमुखापेक्षी का जीवन बेकार है। यह मतवाला तो यहां का वहां पीटा जाता है, उसका समय बेकार जाता है।

सबका संकोच छोड़ो। किसी का मेरे को परिचय नहीं है। मैं स्वतंत्र अविनाशी ज्ञानमय तत्त्व हूं। यहां मेरा कौन है, मैं किसको प्रसन्न करने की चेष्टा करूँ, मैं किससे अपने बारे में कुछ भली बात सुनूँ, किससे अच्छा कहलाऊँ? यहां ऐसा कौन है, जो मेरी आन्तरिक वेदना को सुन सके, मेरे क्लेशों को दूर कर सके? ऐसा तो यहां कोई भी नहीं है। मैं अपने आपमें साहस बनाऊँ और इस एकत्वविभक्त निजस्वरूप का आदर करूँ तो मैं ही मेरे का सहायक हो सकता हूं। इस आत्मा में सर्वप्रथम अपना मन लगा दो। इस आत्मा को अन्यत्र कहीं मत लगावो और फिर धीरे से इस वचन और शरीर के सम्बन्ध के कारण जो अहंकार होता है, अहंकार के उस विलास को भी छोड़ो।

कठिनता से अवशिष्ट जीवन का सदुपयोग- अपने जीवन में कौन पुरुष एक ही जीवन में दो चार बार मरण के सम्मुख न हुआ होगा? जिस किसी से भी पूछो कि आपकी 40-50-60 वर्ष की उमर है। इस उमर के दौरान में आपको कोई ऐसा रोग हुआ होगा, जिसमें तुम मरणासन्न थे? तो प्राय: हर एक व्यक्ति अपनी दो-दो, तीन-तीन घटनाएँ बता देगा। हां, मैं जब इतने वर्ष का था तो तालाब में डूबने से बच गया, आग में जलने से बच गया, हिन्दू-मुस्लिम दंगे में फंस गया था अथवा इतना सख्त बीमार हुआ कि मरते बचा- ऐसी

अनेक घटनाएँ सभी बता देंगे। कल्पना करो कि यदि उन घटनाओं के समय ही देहांत हो जाता तो यहां दिखने को कुछ मिलता, जिसको देखकर हम अपनी कषायों से स्वरूपभ्रष्ट हुए जा रहे हैं। अपने में ऐसी संतवृत्ति जगे कि न क्रोध हो, न मान हो, न माया हो, न ही लोभ हो- ऐसी कोशिश करें। जिन्हें अपने जीवन में शांत होने की भावना है उन्हें चाहिए कि इस कषाय भाव को दूर करें।

घटनावों का हितरूप घटन- भैया ! कषाय को दूर करने के लिए जो भी यत्न करना पड़े, श्रम करना पड़े, अपमान सहना पड़े उन सबका तुम उपकार मानो। किसी पुरुष ने यदि मेरा अपमान कर दिया तो क्या किया? मेरा मान मिटा दिया। अरे मान मिटा दिया तो बढ़िया किया कि घटिया? अच्छा ही तो किया, खराब कहां काम किया? किसी ने मेरा मान मिटा दिया तो उसमें मेरा बिगाड़ नहीं हुआ। सब अच्छा ही है। इतना साहस जगना चाहिए। कषाय बहुत बुरी बला है। कुछ थोड़ा पुण्य का उदय पाया है। सारे समागम मिले हैं। ये सारे समागम कषायों के बढ़ने के कारण बढ़ रहे हैं। ओह मैं ऐसा हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं धनी हूं और मेरे साथ अमुक ने यह बरताव किया। अरे उस दूसरे पुरुष ने हमारे साथ कुछ बरताव नहीं किया। उसने तो अपनी कषाय के अनुसार अपनी चेष्टा भर की है। हमें धैर्य रखना होगा और कषायों पर विजय करनी होगी। इस मन को आत्मज्ञान में विलीन कर देना होगा। अपने एकत्वस्वरूप के अनुभव का रसपान बनेगा तो हित है अन्यथा संसारी प्राणियों की भांति ही मरण करना शेष रहेगा।

अज्ञानी और ज्ञानी द्वारा दान उपादान का विधान- अज्ञानी जीव तो बाह्यपदार्थों में त्याग ग्रहण करते हैं, मैं घर छोड़ता हूं, मैं अमुक को छोड़ता हूं, मैं अमुक व्रत ग्रहण करता हूं, यों बाह्यपदार्थों में उसका त्याग और ग्रहण चलता है, किन्तु अन्तरात्मापुरुष के अपने अन्तर में त्याग और ग्रहण चलता है। मेरे जो विकार भाव हैं, उनका तो त्याग चाहता है और जो सहज शक्ति है, स्वभाव है उसका ग्रहण चाहता है। यह आन्तरिक ग्रहण और त्याग चलता है। स्वीकार करना सो ग्रहण है और निषेध करना सो त्याग है। 'मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं' ऐसा स्वीकार कर लेने का नाम अन्तर में अपने आपका ग्रहण कहलाता है। मैं रागादिक विकार रूप नहीं हूं। विकारों का निषेध करना, सो अपने आपमें त्याग करना कहलाता है। यह अन्तरात्मा इस प्रकार के अन्तरंग में त्याग और अन्तरंग में ग्रहण किस विधि से करे, इस जिज्ञासा के समाधान में यह प्रसंग आया है।

ज्ञानवृत्ति में प्रकृत क्रम- इस श्लोक में सारभूत क्रम और वृत्ति यह कही गयी है कि हे कल्याणार्थी मुमुक्षु पुरुषों ! सर्वप्रथम तो तुम वचन और शरीर से अपने को भिन्न जानो। जैसे कि अज्ञान अवस्था में यह जीव शरीर से और वचन से अभेदरूप अपने को मानता है, अथवा शरीर में और वचन में निज आत्मतत्त्व का निर्णय करता है। सो सर्वप्रथम तो यह करना होगा कि शरीर से और वचन से अपने आपको पृथक् करो। यह शरीर आहारवर्गणा का पिण्ड है, अचेतन है। यह मैं आत्मा आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। मैं शरीर नहीं हूं। इस ही प्रकार ये वचन, भाषा वर्गणा जाति के पुद्गल स्कंधों का परिणमन है। ये अचेतन हैं, मैं आत्मतत्त्व चेतन हूं। शरीर की अपेक्षा वचन सूक्ष्म चीज है और वचन की अपेक्षा मन सूक्ष्म चीज है।

अदृश्यवचन से अदृश्य आत्मा का भेदीकरण- सर्वप्रथम तो अज्ञानीजनों को शरीर से भी न्यारा अपने आपकी समझ आनी कठिन हैं। कदाचित् कहने सुनने से लोकरूढ़ि से अथवा कुछ विचार भी बने तो शरीर से अपने को भिन्न मानने की चर्चा कर लेते हैं। इन वचनों से भी मैं भिन्न हूं, इस प्रकार विनिश्चय होना कठिन है। शरीर तो आंखों भी दिखता है, सो शरीर का तो स्पष्ट निर्णय है कि यह है। अब अपने आपके आत्मा का ठीक-ठीक परिचय पाने की आवश्यकता है। अपने अन्तर का परिचय मिला कि इस दृश्यमान् स्थूल शरीर से अपने आपको समझ लेना सुगम हो जायेगा। परन्तु वचन तो आंखों भी नहीं दिखते और आत्मा तो अदृश्य है ही। ये दोनों अदृश्य तत्त्व हैं, इनमें भेदविज्ञान करें।

बात का व्यामोह- देखो तो भैया ! जो बात बोल दी जाती है उस बात का अज्ञानीजनों को बड़ा पक्ष रहता है। मेरी बात गिर गयी, इसका अन्तरंग में बड़ा क्लेश मानते हैं। शरीर की अपेक्षा वचनों में इस जीव का मोह अधिक पड़ा हुआ है। बात के पीछे शरीर का कष्ट सहना तो मंजूर है पर अपनी बात को नम्र करना मंजूर नहीं है। अरे जरा सोचो तो सही कि यह संसार गर्व करने लायक नहीं है। किस चीज पर गर्व करते हो? गर्व करने से हानियां ही हानियां हैं, सार कुछ नहीं है। किस पर गर्व करते हो, मेरी शान रह गयी। क्या शान नहीं गयी? जानने वाले दूसरे लोग सब समझते हैं कि यह घमण्डी है, शान बगराना चाहता है, मूर्ख है, ऐसा समझते हैं जगत् के लोग। कोई मुँह पर नहीं कह सकते किसी कारण से कि अभी लड़ाई बन जायेगी, पर जानते सब हैं। किसको शान दिखाना चाहते हो?

व्यर्थ का गर्व- एक पुरुष था, तो अपनी स्त्री से वीरता की बड़ी शान मारा करे। मानो महाभारत के समय की घटना थी। सो जब एक महायुद्ध छिड़ा तो स्त्री ने कहा कि यह तो राष्ट्र की सेवा है, आप भी युद्ध में शामिल होइये, आप तो बड़ी वीरता बताते हैं। सो जबरदस्ती शान में आकर कुछ शामिल तो हुआ और दिन भर लड़कर युद्ध में से एक आध टांग लेकर चला आया। अब वह स्त्री को दिखाता है लाई हुई टांग और कहता है कि देखो हम कैसे वीर हैं, हमने युद्ध में वीरता की है, देखो यह टांग लेकर आये हैं। तो स्त्री कहती है कि अरे टांग लेकर आये हो, सर लेकर क्यों नहीं आये? तो पुरूष कहता है कि यदि सर होता तो टांग ही कैसे लाते? कहां गर्व करना? गर्व करने लायक यहां कुछ भी नहीं है। जो वर्तमान में लोग दिख रहे हैं उनसे मानो तुम्हारे अधिक धन है मानो गांव में अधिक प्रतिष्ठा है तो उस धन को क्या चबाओगे? इस प्रतिष्ठा का क्या करोगे और यह लौकिक ज्ञान जो कि गर्व करने का कारण बन गया है उस ज्ञान का भी क्या करोगे? अन्तर में तो शांति ही है। कोई भी तत्त्व संसार में ऐसा नहीं है जिस पर गर्व किया जाय।

निराकार बात का विकट पक्ष- अहो यहां तो बात के पीछे भी भयंकर व्यामोह है। कोई अपनी गलती है और एक बार भी अपनी गलती स्वीकार कर ले तो यह बड़े साहस की बात है। गल्तियों पर गलतियां करता जाय और उन्हें गलती न माने, यदि समझ में भी आ जायें कि यह गल्ती है तो भी मुख से नहीं कहेंगे कि हां मुझसे यह गल्ती हुई है। कोई बड़ा झगड़ा हो जाय और उसमें पंच लोग यह दबाव डालें कि तुम कह दो जरासा कि भाई माफ करो। और ऐसी ही कठिन घटना बन गयी हो कि ऐसा कहे बिना पिंड नहीं छूट सकता तो वह यों कहेगा कि भाई मुझसे दोष बन गया हो तो क्षमा करें। वह यह न कहेगा कि

मुझसे दोष बन गया है तो क्षमा करो। अब भी उसके कहने में यह बात टपक रही है कि दोष तो मुझसे नहीं बना है पर ये लोग दबाव डालते हैं कि ऐसा कह दो, इसलिए कहने जा रहे हैं, यह बात टपक रही है।

गलत जानकर भी गलत बात का हट- एक कोई देहाती मुखिया था, पटेल समझ लो, जाट समझ लो। तो एक घटना में पंचों ने यों कहा कि तीस और बीस कितने होते हैं? तो बोला कि तीस और तीस पचास होते है। लोग बोले कि 50 नहीं होते हैं, 60 होते हैं। हुज्जमहुज्जा हो गया। वह कहता है कि अगर तीस और तीस मिलकर 50 न हों तो हमारी 5-6 भैंसे हैं, वे तुम ले लेना। अब सब लोग बड़े खुश हुए कि अब तो अपनी बिरादरी के बच्चों को खूब दूध मिलेगा। ये बातें उसकी स्त्री ने सुन लीं और वह उदास हो गई। अब वह पुरुष घर पहुंचा, घर पहुंचकर स्त्री से पूछता है कि तू उदास क्यों है? वह स्त्री कहती है कि तुमने तो ऐसा कर डाला कि जिन्दगी भर घर के बच्चे भूखों मरेंगे, इसी से हम उदास हैं। वह पुरुष बोला कि तो क्या गया? स्त्री बोली कि तुमने पंचों से बोल दिया है कि तीस और तीस मिलकर 50 होते हैं, अगर 50 न होते हों तो हमारी सभी भैंसे खोल लेना। तब वह पुरुष कहता है कि तू तो पागल है। अगर हम अपने मुख से कह दें कि तीस और तीस मिलकर 60 होते है, तभी तो कोई भैंसों को छू सकेगा। तू क्यों डरती है?

बात के पक्ष के त्याग में मार्गदर्शन- यों ही यह जगत् अपनी बात के पीछे मर रहा है, बात न गिर जाये। हां, चाहे दूसरे के लाठी, डण्डे, मुक्के सहने पड़ें, पर बात हमारी न गिरे। अरे, बड़प्पन तो इस बात में है कि कोई अपनी मामूली गलती भी हो तो उसे स्वीकार कर लेने में संकोच न हो, शर्म न हो, यह भी तो कषाय का त्याग है। हम चाहें कि हम बड़े हो जायें, हमारा विकास बने, महत्त्व बढ़े और जिन उपायों से बना जाता है बड़ा, वह उपाय न किया जाये तो कैसे काम बनेगा? अरे, जान बूझकर अपनी नाक कटा लो याने यह अभिमान मिटा दो, बात की शान मिटा दो। नाक कटाने का मतलब इस नाक के कटने से नहीं है, जो मुंह पर लगी है। नाक मायने मान। अरे, दूसरे जीव मुझसे सम्मान पायें, मेरा अपमान हो और दूसरे खुश हो जायें। अरे, हो जायें खुश, प्रभु ही तो हैं वे दूसरे। यह तो अच्छा ही है। कितने हिम्मत और साहस की बात है तथा अन्तरंग में कितने बड़े गौरव की बात है? ममत्त्व अन्तर में ही तो यह महान् कार्य कैसे किया जा सकता है?

मोहियों का वचनव्यामोह- इस जीव को शरीर की अपेक्षा वचन से ज्यादा व्यामोह है। झगड़ा और किस चीज का है? लाखों का धन है, सब ठाठ बाट आराम हैं। पर कहां सुख है? उपादान तो अयोग्य है, अज्ञान अवस्था का है। सो कोई न कोई बात चल उठेगी और उसमें दु:खी होने लगेगा। घर के लोगों ने मुझे यों कह दिया कि हमारा पद बड़ा है, हम बूढ़े हैं, हमारे बेटे की ही तो बहू है, हमारा स्टेण्डर ऊंचा है, सास इस तरह से कहती है, और बहू कहती है कि हम तो मैट्रिक पास हैं, हम ऐसी कला जानती हैं, हमारी बडी इज्जत है, हम बड़ी रूपवती हैं, घर के लोग भी मेरे आगे पूँछ दबाकर रहते हैं, मुझमें तो बड़ी कला है, वहां उसे अभिमान चल रहा है। जब दोनों जगह अभिमान है तो क्या पद-पद पर कलह न होगी। यह वचन का व्यामोह बड़ा व्यामोह है। इन वचनों से अपने को न्यारा समझो।

त्रिमुण्ड से अपना पृथक्करण- मैं तो वह हूं, जो सब कुछ जानकर भी सबसे न्यारा अमिट अखण्ड बना रहता है। मैं तो वह हूं- ऐसा निश्चय करके वचनों से भी अपने को न्यारा करने का कर्तव्य है। कितनी बातें हुई? प्रथम तो शरीर से अपने को न्यारा कहा। दूसरी बात यह है कि वचनों से भी अपने को न्यारा अनुभव करो। अब तीसरी बात यह है कि वचन और काय के कारण जो लोकव्यवहार बन गया है, उस व्यवहार से अपने को न्यारा करो, मित्रता हो गयी और व्यवहार बना है, उन व्यवहारों से अपने को न्यारा करो। सबमें मिलाजुला सर्व के समान अपने आपको मानों, फिर वचन व्यवहार का मोह नहीं रहे। यों ही मन वचन काय से जो व्यवहार बन गया है, उस व्यवहार से भी अपने को न्यारा करो- ये तीन बातें होती हैं।

त्रिमुण्ड से छूटने पर कर्तव्य- भैया ! अब क्या करें कि जो मन है, द्रव्यमन की बात न मानों। द्रव्यमन तो काम में शामिल है। जहां काय से अपने को न्यारा अनुभव करने की बात कही जाये, वहां तो यह स्वयं ही सिद्ध है कि द्रव्यमन से भी न्यारा अपने को समझो। द्रव्यमन की बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु भावमन की, चित्विज्ञान की बात कह रहे हैं। उस विज्ञान से चित् को, मन को आत्मा से जोड़ो। सुनते हुये बहुत अटपटासा लग रहा होगा कि मोक्षमार्ग के प्रकरण को भेदविज्ञान की प्रक्रिया में मन और आत्मा को एक जोड़ना बताया गया है।

अब यहां चौथा काम कहा जा रहा है कि ऐसा मानस, जो मानस आत्मज्ञान के यत्न का हो, उस मानसज्ञान और आत्मा को अभेदरूप कर डालो। ऐसा निश्चय करो कि यह प्रयोग; वचन और काय से अत्यन्त दूर होने के प्रयोजन से बताया गया है। वचन और काय से अपने को न्यारा करके और वचनव्यवहार से भी अपने को पृथक् करके उस मानसज्ञान में अपने तत्त्व को एक करें।

योगसमाधि में अन्तिम पन्चम कर्तव्य- इसके पश्चात् 5वीं बात यह है कि सूक्ष्म दृष्टि करके उस मानसज्ञान को भी अपने आपसे न्यारा निरखें। अनादि अनन्त अहेतुक अशरण चित्स्वभावमात्र हूं। यों सर्वविकल्पों से मन की वृत्तियों से भी अपने को न्यारा अनुभव करें। यों भेदविज्ञान की परम्परा से आत्मतत्त्व में आत्मस्वरूप की झलक होती है- ऐसा कभी तो अपने सहजस्वरूप का दर्शन हो जाये, फिर तो यह परम्परा पुष्ट होने का अवकाश पा लेती है। यों सर्व से विविक्त चित्प्रतिभासमात्र अपने आपको अनुभव करें, यह संसार के संकटों से बचने का उपाय है।

अन्तस्तत्त्व की साधना करने वाला ज्ञानी पुरुष यदि बाह्यपरिस्थितिवश गृहस्थदशा में है और वहां नाना काम करने पड़ते हैं, फिर भी जैसे रोगी पुरुष कड़वी दवा पीता है और इतना ही नहीं, कड़वी दवा के पीने का उद्यम बनाता है, लेकिन उसके अन्दर में यह बात पड़ी हुई है कि मुझे यह दवा न पीनी पड़े तो अच्छा है। दवा न पीनी पड़े- ऐसी स्थिति के लिये वह दवा पीता है। इस कारण औषधि सेवता हुआ भी वह औषधि का सेवक नहीं है। यों ही ज्ञानी पुरुष इस जाल से छूट जायें, इस वेदना से मुक्त हो जायें- ऐसी भावना करके एक असक्त अवस्था में कदाचित् कभी विषयों में प्रवृत्त भी होता है तो विषयों से छूटने के भाव को

रखता हुआ रहता है, इस कारण वह अकर्ता होता है। बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, जाता हुआ भी नहीं जाता है।

क्रिया होने पर भी अकर्तृत्त्व- कभी देखा होगा कि जिस मां को लड़के से उपेक्षा है, वह मां आगे चली जाती है और वह छोटे पैरों वाला नन्हासा बच्चा कच्ची दौड़ लगाता हुआ और रोता हुआ चला जाता है। वह बच्चा रोता हुआ चला जा रहा है। उसे कहां शरण है, किसके घर जाये? वह चलता तो रहता है, किन्तु उसके अन्तरंग की बात देखो तो वह अन्य किसी ओर ही भावना से चल रहा है। उसे चलना पड रहा है। इसी प्रकार बाह्यव्यवस्था हो और कार्य वहां करना पड़े तो ज्ञानी पुरुष का वहां मन नहीं रहता है, इसी कारण वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता। उसका मन किसी अन्य जगह है।

भैया, स्व का पुष्ट ज्ञान होने के कारण उपयोग बोलने में भी नहीं होता तो भी प्रसंगवश उसके बोलने की धारा वाणीरूप से चलती रहती है। चले किन्तु उपयोग उसमें राजी नहीं है। यों यह अन्तरात्मा पुरुष ज्ञानबल के प्रयोग से बाह्यविषयों से निवृत्त होता है और निजआत्मतत्त्व में प्रवृत्त होता है। यों इस जीव से पहिले शरीर को भिन्न मानें, वचनों से भिन्न मानें। काय और वचन से जो कुछ व्यवहार बनता है, उससे भिन्न जानें और अन्तर में मन से अपने आत्मा को जोड़ लें। मन से भी आत्मतत्त्व को भिन्न अनुभवें। यह है उपाय ज्ञानी पुरुष को उन्नतिमार्ग में लगाने का।

आत्मशिक्षण- यह आत्मवेदी ज्ञानी पुरुष की बात कही जा रही है। जो ज्ञानीसंत इस आत्मज्ञान में पुष्ट हैं, उनको तो यह भी नहीं करना है। अन्तरंग का त्याग और अन्तरंग का ग्रहण तो स्थिरज्ञाता निष्पक्ष केवल मात्र रह जाता है। यों बाह्यतत्त्वों से निवृत्त होकर निजआत्मतत्त्व में लगना बताया गया है और यहां यह भी शिक्षा दी गयी है कि प्रयोजनवश यदि किन्हीं बाह्यकार्यों में लगना पड़े तो अनासक्त होकर अपने आत्मकल्याण की धुन रखते हुये बाह्यप्रवृत्ति कर लो, किन्तु अनुभव करो, काय से, वचन से, व्यवहार से और मानसिक विकल्पों से भी न्यारे ज्ञानमात्र निजआत्मतत्त्व का।

श्लोक 49

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।

स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वास: क्व वा रति:।।49।।

अज्ञानी और ज्ञानी का ख्याल- पूर्व श्लोक में यह शिक्षा दी गई है अपने आपको वचन और काय से अलग जानो और वचन तथा काय से योजित किया गया जो व्यवहार हो उसे भी त्यागो। इतने अंश के सम्बन्ध में एक प्रश्न हो रहा है कि इस व्यवहार को क्यों छुड़ाया जा रहा है? पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के स्नेह में और उनके वचनालाप में तो सुख प्रतीत होता है और इस ही में तो बड़े बड़े ऊँचे जन बड़ी कला से लगे चले जा रहे हैं। इस व्यवहार का त्याग क्यों कराया गया है, इस आशंका के समाधानस्वरूप यह श्लोक है। आचार्यदेव कह रहे हैं कि जिसने देह में आत्मा की दृष्टि की है यह ही मैं हूं, देह को लक्ष्य में लेकर उसमें

ही सर्वस्व जिसने माना है ऐसे पुरुष को यह जगत् विश्वास के योग्य जंच रहा है और बहुत रमणीक जंच रहा है, किन्तु जिसने अपने आत्मा में ही आत्मा की दृष्टि बनायी है ऐसे संत पुरुष को इस जगत् में कहां तो विश्वास हो और कहां वह रमे?

छिः, अपवित्र शरीर में रमण- भैया ! यह हाड़ मांस खून का पुतला जिसमें अन्दर से लेकर ऊपर तक सभी असार और अशुचि चीजें हैं। इससे तो अच्छे पेड़ और पृथ्वी हैं। पेड़ और पृथ्वी के शरीर कुछ ठोस हैं। हीरा, जवाहरात, रत्न, सोना, चाँदी आदि इष्ट चीजें सब पृथ्वी के शरीर हैं और वनस्पति के शरीर देखो- सागौन की लकड़ी, शीशम की लकड़ी, देवदार चीड़ की लकड़ी कैसी अच्छी-अच्छी चीजें हैं। एकेन्द्रिय के शरीर भी कितने सुहावने हैं, ठोस हैं, लोक में सारभूत हैं। इस शरीर से तो वह ही शरीर अच्छा है। इस अशुचि काय में इस मनुष्य शरीर में कहां सार नजर आता है? नवद्वार बहें घिनकारी। नाक से नाक झरती है उसकी संभाल रखना पड़ता है, मुख से लार बहे, थूक आये, कफ आये और भीतर पड़ा हुआ यह जीव ऐसी ग्लानि करने वाला है कि उसे गोबर दिख जाय, विष्ठा दिख जाय, कहीं पीप खून आदि दिख जाय तो थूक से गला भर जाता है और इसे थूकना पड़ता है। कैसा विचित्र असारभूत यह शरीर है, किन्तु इस व्यामोही पुरुष को ऐसा अपवित्र शरीर जिस पर चाम की पतली चादर मढ़ी है, इससे सारी पोल ढकी है, ऐसी शरीर भी इस देह में मुग्ध पुरुष को सुहावना मालूम होता है और इसी कारण विश्वास के योग्य मालूम होता है। यह तो मुझे सुख ही देगा। इससे ही मेरे को शांति होगी, ऐसा समझ रहे हैं और इस शरीर में प्रीतिबुद्धि की जा रही है।

देहात्मबुद्धिता के कारण यथार्थदृष्टि का लोप- इस जगत् में कोई भी स्कंध अपने रमने योग्य नहीं है, विश्वास के योग्य नहीं है। अभी कहा गया था कि सोना चाँदी काठ पत्थर ये भले हैं, ये भी भले नहीं हैं। पदार्थ हैं, स्कंध हैं, यों परिणमते हैं, पर उनमें अपवित्रता ऐसी नहीं पायी जाती है जैसी कि हम आपके शरीर में है। फिर भी देखो- मनुष्यभव में कितने शुभकर्म का उदय है कि जो संस्थान बने हैं सो ठीक बने हैं। बैल घोड़ों की नाक में नथुवा एकदम खुले दरबार जैसे होते हैं। यदि इस मनुष्य के नाक का नथुवा बैल घोड़ा जैसा खुला हुआ होता तो इसकी पोल जरा जल्दी मालूम हो जाती। नाक चाम की नाक से ढकी है और सुवा जैसी नाक है। सारी पोल ढकी हुई है। इस शरीर में कहां है सुहावनापन? सर्वत्र अशुचि है, लेकिन जिन्हें देह में आत्मबुद्धि हो गयी है उन्हें कला की वजह से, कुछ शरीर के रूपों की वजह से और मुख्य तो अपने आपमें होने वाली विषय वेदना की वजह से इस मनुष्य का यह शरीर पवित्र, विश्वास्य और रम्य मालूम पड़ता है।

भोग छूटने की तीन पद्धतियां- एक भंगिन विष्ठा से भरी हुई टोकनी लिये जा रही थी। एक सज्जन ने बहुत बढ़िया साफ एक तौलिया दिया जो बड़ा सुहावना था। इसलिए दिया था कि तू इस टोकनी को ढक ले, क्योंकि इससे बहुत से लोगों को तकलीफ होती है। उस भंगिन ने उसे तौलिये से टोकनी को ढक लिया। अब चली जा रही है। रास्ते में तीन मित्र मिले, बातें करते हुए चले जा रहे थे। उन्होंने देखा कि यह कोई सुहावनी वस्तु है क्योंकि यह कीमती कपड़े से ढकी हुई है। इसमें कोई बढ़िया चीज होगी। वे तीनों उसके

पीछे लग गये। वह भंगिन कहती है भाई क्यों लगे हो पीछे? ओ हम जानना चाहते हैं, देखना चाहते हैं कि इस टोकने में क्या रक्खा है? अरे इस टोकने में विष्ठा पड़ा हुआ है। नहीं-नहीं तुम झूठ बोलती हो, इसमें कोई बढ़िया चीज है। कहती है नहीं हम ठीक कहती है। यह गंदी चीज है, लौट जावो। इतनी बात सुनकर एक मित्र तो लौट गया। अभी दो मित्र लगे हैं। उन्हें उसके कहने मात्र से विश्वास नहीं हुआ। अरे भाई क्यों लगे हो पीछे? वे बोले कि हम देखेंगे कि इसके अन्दर क्या है? अरे इसमें मैला पड़ा है। नहीं तुम बहकाती हो, दिखावो इसमें क्या है? तौलिया उठाकर दिखाया तो एक और देख करके लौट गया। हां ठीक चीज नहीं है। मगर एक अभी पीछे ही लगा रहा। अरे क्यों पीछे लगे हो? तुम इसे दिखावो- इसमें कोई अच्छी चीज है। दिखा तो दिया, अरे यों नहीं, हम इसकी परीक्षा करेंगे, अरे तो लो भाई देख लो। कपड़ा उठाया, सूँघ सांघकर खूब देखा। जब मन भर गया तो कहा हां ठीक है, है यह गंदी चीज। तब वह लौटा। तो यों समझो कि इन विषयभोगों से सबको जुदा होना पड़ेगा। इन तीन पद्धतियों में से कौनसी पद्धति चाहते हो? सो चुन लो।

निर्वाचन में बुद्धिमानी की आवश्यकता- तीन तरह के लोग हैं, उनमें ये अपना नाम जिनमें लिखाना है, लिखावो। एक तो वह पुरुष हैं जो केवल सुनकर उपदेश मात्र से ही उन भोगों में फँसे बिना वहां से निवृत्त हो जाते हैं। और एक पुरुष ऐसे होते हैं कि कुछ भोगों में लगते हैं, थोड़ा लगे कुछ देखा- निवृत्त हो गए। एक ऐसे हैं कि भोगों में लगे-लगे ही मर जायें तो मर जायें पर 4-5 मिनट भी त्याग नहीं कर सकते। छूटना तो सब है ही, अब अपनी मर्जी है, किसी भांति छोड़ो। कुछ विवेक और ज्ञान का सहयोग लेना चाहिए। यों बुरी मौत छूटा तो क्या छूटा? श्रद्धान् और ज्ञान सहित समस्त परवस्तुवों से भिन्न आत्मा में लगें और यथार्थ बात समझें, आत्मा को छूऐं तो इसमें बुद्धिमानी है। भाई लोग कहने लगते हैं ना कि यह बात आत्मा को टच करती है। अरे यह आत्मा आत्मा को टच कभी कर जाय ऐसी स्थिति तो बनावो। संसार का यह उपद्रव, संसार का यह मायाजाल यह तो यों ही है, इसके विश्वास में तो हानि ही हानि है।

जगत् की अविश्वास्यता व अरम्यता- भैया ! जगत् में कोई भी स्कंध ऐसा नहीं है जो विश्वास करने के योग्य हो और रमणीय हो, लेकिन पर्यायबुद्धि देहात्मदृष्टि मिथ्यादृष्टि जीव को यह जगत् विश्वास के योग्य लग रहा है। धन कमाने की रोज-रोज तृष्णा क्यों बन रही है, इतना हो गया अब इतना और होना चाहिए। यों ही खर्च मत करो और जोड़ों। अरे ज्ञानमात्र अमूर्त तो यह है और लाखों करोड़ों का बोझ संचित करता है जिसमें से कुछ भी इसको प्राप्त नहीं हो सकता। पर्यायबुद्धि की धुन है, विवश है यह जीव क्योंकि अज्ञानी है, उन्मत्त है। जैसे किसी दु:खी पागल पुरुष को देखकर जो कि बहुत अच्छे घराने का पुरुष हो और सबको उपदेश करने वाला, उपकार करने वाला, आचरण से रहने वाला पुरुष हो और पागल हो जाय तो लोग उस पर कितनी दया करते हैं? हाय यह कैसा हो गया, कैसा सुहावना था, कैसा परोपकारी था और क्या हो गया, कैसे यह ठीक हो? दया आती है। ऐसे ही ज्ञानी साधुसंतों को इन लखपति करोड़पति वैभववान् राजा महाराजावों की प्रवृत्ति को देखकर इन पर दया आती है, ओह यह व्यर्थ का लपेटा है, इस परस्कंध में से

इसके आत्मा का कुछ नहीं लगता है, अत्यन्त पृथक् है, भिन्न वस्तु है। फिर भी यह कितना उसमें लग रहा है, फंसा जा रहा है, उसे दया आती है।

सुगम चिकित्सा न किये जाने पर ज्ञानियों की करुणा- देखो भैया ! इस रोग के मिटाने की, इस पागलपन के दूर होने की रंच ही तो तरकीब है और इसी के अन्दर औषधि पड़ी हुई है। थोड़ा इस उपयोग की गति को मोड़ दो, उपयोग जो निज से पराड्.मुख हो रहा है उसकी गति को बदल देना मात्र ही तो इन समस्त संकटों से मुक्त होने की औषधि है। अरे भैया ! यह तो इतना विवश है कि इतनी ही बात याद नहीं हो पाती है। दया आती है ज्ञानीसंत पुरुषों को और जब यह दया अपना चरम रूप रख लेती है तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है। यह सारा जगत् कैसा व्यर्थ ही अज्ञान में रहकर दु:खी हो रहा है? इस जगत् का अज्ञान मिटे अपने आपके अंत:स्वरूप का दर्शन हो, सर्वसंकटों से दूर हो जायें यह ऐसी अपार करुणा जिस सम्यग्दृष्टि जीव के जग रही हो उसके वहां तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता हैं।

बहिरात्मा की विशेषतायें- इस अज्ञानी जीव के अनेक वाचक शब्द हैं और उन शब्दों के माध्यम से ही इस अज्ञानी जीव की भीतरी बात को परख सकते हो। इसे कहते हैं देहात्मदृष्टि। जिसकी देह में यह मैं आत्मा हूं- ऐसी दृष्टि है, उसे कहते हैं देहात्मदृष्टि। मिथ्यादृष्टि का भी अर्थ यह है कि जिसे लोग जल्दी में यों बोल जाते हैं कि जिनकी मिथ्या अर्थात् विपरीत दृष्टि हो, धारणा हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्या शब्द का अर्थ है संयोगी भाव। मिथ् धातु संयोग अर्थ में आती है। मिथ् से ही मिथुन बना। जिससे मैथुन बना, उसी से मिथ्या बना अर्थात् एक दूसरे का स्वामी है, एक दूसरे का कर्ता है, एक दूसरे का अधिकारी है। इस प्रकार भिन्न पदार्थों में संयोगपने की दृष्टि जिसमें हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। चूंकि भिन्न पदार्थों में संयोग मानने की बात वस्तुस्वरूप से विपरीत है, इस कारण मिथ्या शब्द का अर्थ विपरीत उल्टा यह प्रचलित हो गया, किन्तु मिथ्या शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ यह नहीं है। संयोग को ही सर्वस्व मानने की, सही मानने की जिसकी दृष्टि हो, उसके मिथ्या कहते हैं।

राग और मोह में अन्तर- भैया, राग और मोह में बड़ा अन्तर है। राग में तो प्रीति का परिणाम है। सुहा गया, सो रागभाव है, किन्तु मोह में अज्ञान का परिणाम है। पुत्र का पालन कर रहे हो तो ठीक है, प्रीति है, प्रेम है, राग है, किन्तु भीतर में यदि यह अज्ञान बसा हुआ है कि यह तो मेरा है, तो मोह हो गया। इस ही अज्ञान अन्धेरे का नाम मोह है। मोह बहुत ही भयंकर कींच है। जिस मोह में फंसा हुआ प्राणी इस संसार में जन्ममरण के चक्र काटता है। मोह गन्दी चीज है।

अशुचित्व- लोग कहते हैं कि नाली गन्दी है, विष्ठा गन्दा है। क्यों नाली गन्दी है? उसमें कीड़े का कलेवर है, मांस है। गन्दा क्या है? मांस, खून, पीप आदि मलिन हुए। यह तो बतावो कि खून, पीप, मांस जिस उपादान से बना है, वह उपदान इस नवाब साहब के ग्रहण करने के पहिले भी गन्दा था क्या? नहीं था। यह मोही जीव मरण करके जब अन्य स्थान में पहुंचता है और किसी पुद्गल स्कंध को ग्रहण करता है

तथा नाना शरीर वर्गणायें इसके चारों ओर से आया करती हैं, वे सब वर्गणाएँ इस मोही जीव के जन्म लेने के पहिले भी थीं क्या? थीं।

असत् का तो कुछ बनता नहीं है। वह किस रूप थी? क्या हाड़, मांस, पीप नहीं थे? रूप, रस, गन्ध, स्पर्श थे, किन्तु सही ढंग में थे। जब मोही जीव ने उन्हें ग्रहण किया तो वे गन्दे बन गये। तो जिसके सम्बन्ध से वे सभी वर्गणाएँ गन्दी बन जायें तो मूल में गन्दा कौन हुआ? यह मोही जीव हुआ। जिसके छू लेने से, जिसके स्पर्श मात्र से वे सब शरीर वर्गणाएँ गन्दी बन गयीं।

मोह की ही सर्वाधिक शुचिता- इस मोही जीव में भी जीव गन्दा नहीं है, उसे तो यों समझिये कि जैसे ''मैं वह हूं जो हैं भगवान्, जो मैं हूं वह है भगवान्'' जीव का स्वरूप गन्दा नहीं हैं, वह तो पवित्र चेतनापुन्ज है। उसमें जो विकार पड़ा है मोह का, अज्ञान का वह गन्दा है। दुनिया में सबसे अधिक गन्दी, अत्यन्त निन्दनीय, जिसकी शक्ल भी न देखी जानी चाहिए- ऐसा गन्दा है कुछ, तो वह है मोह। मोह से गन्दा दुनिया में और कुछ नहीं हैं, मोहियों को यह विदित नहीं होता। वह तो मोह को ही सर्वस्व जानता है, किन्तु जो यथार्थज्ञानी है, सावधान है, सहजस्वरूप का जिसने परिचय पाया है, वह जानता है कि मोह कितना गन्दा हुआ करता है। इस अज्ञानी जीव का नाम बहिरात्मा है। अपने से बाहर के पदार्थों में आया जो माने, उसे बहिरात्मा कहते हैं।

स्वप्नसम विश्वास- अहो, एक जीव की दूसरे जीव के साथ कितनी फुटकर मन्त्रणा होती है कि पुत्र पिता को, पिता पुत्र को, पति स्त्री को, स्त्री पति को, मां बेटे को, बेटा मां को कितने विश्वासपूर्वक निरखता है? मेरा तो सब कुछ यह है और इससे ही सुख है, इससे ही बड़प्पन है। यों इस देह में आत्मा की दृष्टि रखने वाला जीव बहिरात्मा कहलाता है। इसके अनेक नाम हैं। वे सब नाम इस अज्ञानी जीव की खासियत को बताने वाले हैं। इस मुग्ध प्राणी को यह सारा जगत् विश्वसनीय हो गया है और रमणीक हो गया है।

प्राकृतिकता का रहस्य- किसी जंगल में पहुंच जाएँ। कोई भलासा दृश्य देखने को मिल जाये तो बड़ा मन बहलता है। क्या कर रहे हो भाई? तफरी कर रहे हैं, दृश्यों के देखने का मौज ले रहे हैं। कैसा है यह दृश्य? प्राकृतिक दृश्य है, कुदरत का दृश्य है। अरे, किसी ने कुदरत को देखा है कि कैसी उसकी शकल होती है, कैसे हाथ पैर होते हैं, कहां से वह कुदरत आती है, कहां जाती है? वह कुदरत क्या है कि जिसका यह रूप-रंग बड़ा सुहावना है? अरे, वह प्रकृति और कुछ नहीं है, वह है 148 प्रकार के कर्मों की प्रकृतियों का विपाक। इस प्रकृति को प्रकृति बोला करते हैं। कितने सुन्दर पेड़ हैं, कैसे हरे पीले पत्ते हैं, कैसे रंग-बिरंगे फूल हैं, उन फूलों में कैसा मकरन्द का डोरा लगा है और उन सब प्रकृतियों के उदय से जीव का काय बना है- ये सब प्रकृतियां ही तो हैं।

कर्मों का ढेर है, कर्मों का भार है- ये सब मिथ्यादृष्टि को रमणीक लगते हैं और विश्वास के योग्य जँचते हैं, किन्तु ज्ञानी को ये सर्वविषय न विश्वास्य जँचते हैं और न रमणीक जँचते हैं।

व्यर्थ का व्यवहार- जिस ज्ञानी योगी संतपुरुष ने अपने आत्मा में ही ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्व का अवलोकन किया है और इस अवलोकन के प्रसाद में स्वाधीन सहजआनन्द का अनुभव किया है, उस पुरुष को इस लोक में किस पदार्थ पर विश्वास जमें। यह सारा जगत् इस ज्ञानी के विश्वास के योग्य नहीं रहा है। इस दिखती हुई दुनिया में किस बात का विश्वास करें? न यह सदा रहेगा, न मेरे निकट रहेगा, न इसके किसी परिणमन से मेरे में कुछ परिणमन होता है। यह दृश्यमान् सब अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, फिर ऐसा कौनसा कारण है, जिससे यह जगत् कुछ विश्वास के लायक बने। वस्तुत: कोई भी विश्वास के योग्य नहीं है, फिर भी यहां विश्वास की बात चल रही है। पिता का पुत्र के साथ और पुत्र का पिता के साथ, स्त्री का पति के साथ और पति का स्त्री के साथ, गुरु का शिष्य के साथ कैसा विश्वास चल रहा है?

विश्वास का आधार सदाचार- यह सब विश्वास सदाचार की नींव पर निर्भर है। सदाचार हटे तो विश्वास भी रंच किसी का किसी पर लोकव्यवहार में भी नहीं रह सकता। कौन विश्वास के योग्य है? गुरु जब तक भला है, तब तक शिष्य उस पर विश्वास रखता है। शिष्य जब तक भला है, तब तक गुरु शिष्य पर विश्वास रखता है। विश्वास रखते हुए भी तो ऐसी घटना आ जाती है कि जो विपदाओं को बिछाकर मुसीबत कर देते है।

श्रीराम का सीता पर क्या विश्वास न था? पूर्ण विश्वास था कि शुद्ध है, सती है फिर भी क्या घटना बन गयी? श्रीराम ने लोकमर्यादा रखने के लिए सीताजी को जंगल में भेज दिया। विश्वास होने पर भी घटना बनने पर विच्छेद कर दिया करते हैं लोग। फिर जब विश्वास ही न हो एक दूसरे का तो वहां गाड़ी रंच भी नहीं चला करती है।

ज्ञानी व अज्ञानी का विश्वास्य स्थान- इस ज्ञानी संत को तो परमार्थ की दशा में किसी भी परपदार्थ में अणुमात्र भी विश्वास नहीं है। काहे का विश्वास करे? ये अत्यन्त भिन्न हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी तो न्यारे हैं। प्रत्येक सत् के सदृश्य धर्म एक है। उसमें क्या कोई व्यन्जना निभती है? इस आत्मवेदी पुरुष को तो मात्र निजसहजस्वरूप में ही विश्वास है। ज्ञानी को अन्यत्र इस जगत् में कहीं विश्वास नहीं होता और न कहीं यह रम सकता है। जबकि इन देहात्मदृष्टि जनों को, जिन्होंने शरीर को ही आत्मसर्वस्व मान लिया है- ऐसे देहात्मदृष्टि जनों को इस जगत् में सारा विश्वास रम्य बना हुआ है।

एक दृष्टान्त द्वारा जगत् की रम्यता का पर्दाफाश- दो मित्र थे, एक साथ स्वाध्याय करते थे। ज्ञानचर्या में दोनों सम्मिलित रहा करते थे। उनमें आपस में निर्णय हुआ कि हम दोनों में से जो पहिले मरे, वह मरकर देव हो तो वह दूसरे को सम्बोधने के लिए समझाने आये। कोई देव समझाने आये और यह विदित हो कि यह तो अमुक था, मरकर देव बना है, उसका अतिशय भी विदित हो तो धर्म में कितनी श्रद्धा बढ़ जाती है? दोनों में यह निश्चय हुआ। अब उनमें से एक गुजर गया और वह मरकर देव हुआ। अब वह मन्दिर में समझाने के लिये आया। मित्रमनुष्य स्वाध्याय कर रहा था। देव बोला कि भाई सारा जगत् असार है, तुम्हारा यहां कुछ भी नहीं है, आत्महित में लगो। तो वह कहता है कि क्या कह रहे हो तुम? हमारी स्त्री तो बड़ी

आज्ञा मानती है, पुत्र हमारा बड़ा विनयशील है, मां तो मुझे अपना दिल समझती है, पिता की आंखों का तारा हूं, तुम क्या समझते हो?

देव बोला कि अच्छा, एक काम कर सकोगे क्या? हां। देखो कल के दिन 12 बजे दोपहर को बीमार होकर पलंग पर पड़ जाना। अच्छा, यह तो कर लेंगे। बीमारी के लिए सबसे बहाना क्या है? पेट का दर्द और सिर का दर्द। कोई इसी फिराक में बैठा होगा तो बड़ा खुश हो रहा होगा कि लो बहाने की आज अच्छी तरकीब बता दी। डाक्टर हैरान हो जाये, कहां हैं सिरदर्द? वह चिल्लाता रहे कि अरे ! अरे ! मरे जा रहे हैं तो डाक्टर क्या करेगा?

वह सिर दर्द और पेट दर्द की बात बनाकर 12 बजे पलंग पर लोट पोट होने लगा। उसी समय वह देव वैद्य का रूप रखकर झोली लिए हुए फेरी लगाने आया। मेरे पास बड़ी अचूक दवा है, कैसा ही रोग हो मेरी दवा से तुरन्त ही ठीक होगा। घर वालों ने उस वैद्य को बुला लिया और कहा कि वैद्य महाराज मेरा यह बच्चा बहुत बीमार है, इसे ठीक कर दीजिए। हां ठीक कर देंगे। उसने झूठमूठ की दवा निकाली और कहा कि एक गिलास स्वच्छ जल ले आवो। ले आये, उसमें जरासी वही भभूत सी डाल दी और वैसे ही ओठों से मंत्र पढ़कर घर वालों से कहा कि लो इस दवा को पियो कोई। लोग सोचते हैं कि बीमार तो पड़ा है यह और दवा पिलाना चाहता है घर के कुटुम्बियों को। सबने कहा महाराज यह क्या कर रहे हो, बीमार को ही दवा पिलावो ना। तो वैद्य जी बोले कि यह ऐसी दवा नहीं है। इसमें तंत्र मंत्र और औषधि के सर्व रस मौजूद हैं। इसका अनुपान यह है कि इस दवा को दूसरा ही पीवेगा। जो पीवेगा वह तो मर जायेगा और जो बीमार है वह बच जायेगा। मां जी पी लो दवा। अब मां जी के मन में बिल्लियां लोटने लगी। मैं ही मर जाऊँगी तो किसका सुख देखूँगी और यह एक मर जायेगा तो अभी तीन बच्चों का तो सुख देखने को मिलेगा। बाप से दवा पीने को कहा तो उसने भी यही सोचा। स्त्री से कहा तो वह यह सोचती है कि मेरे दो तीन लड़के हैं। यदि मैं ही मर गयी तो फिर क्या सुख देखूँगी और पति गुजर गया तो लड़के तो हैं, इन लड़कों से तो सब आराम है। उसने भी दवा पीने को मना किया। तो वैद्य जी कहते हैं कि क्या मैं इस दवा को पी लूँ? तो कुटुम्बी लोग बड़े खुश हुए। वाह-वाह वैद्य जी, आप बड़े दयालु हो, आप तो साधु पुरुष हो, हां हां आप पी लीजियेगा। वैद्य ने कहा अच्छा तुम सब जावो। हम इसे ठीक कर लेंगे, इस दवा का एकांत में ही अनुपान होगा। सब चले गए, अब कान में कहता हैं कि देख लो तुम कहते थे कि हमारे घर के लोग बड़े आज्ञाकारी हैं, बड़े विनयशील हैं कुटुम्ब के लोग। देखो यहां कोई तुम्हारे लिए कुछ हुआ? तुम किस पर गर्व करते थे?

वस्तु की अनन्याधीनता- भैया ! यह तो वस्तु का स्वरूप ही है। प्रत्येक वस्तु अपने लिए अपने में अपने द्वारा परिणमेगी, यह तो वस्तु के स्वरूप में ही बात पड़ी हुई है। इस ज्ञानी संत को इस लोक में किस पदार्थ में विश्वास जमें? किस पदार्थ में यह रमण करे? यहां कोई भी पदार्थ विश्वास के योग्य नहीं है, रमण के योग्य नहीं है। जब कभी जीवन में कोई बड़ा संकट आता है, जब मरणहार हो जाते हैं तब मन में यह निश्चय हो जाता है कि अबकी बार अगर बच जाऊँ तो फिर जीवन भर मैं धर्म करूँगा, और ठीक हो गए तो थोड़े ही दिन बाद फिर वही रफ्तार हो जाती है जो पहिले से चल रही थी।

कष्ट में धर्म की सुध- कोई लोभी आदमी नारियल तोड़ने के लिए एक नारियल के पेड़ पर चढ़ गया। वहां फल तोड़ने लगा। फल तो तोड़ लिया पर नीचे उतरने लगा तो बड़ा भय लगा। सोचा कि अब तो उतर नहीं सकेंगे, मरण ही निश्चित् है। सों संकल्प करता है कि हे भगवान् हम उतर जायें तो 100 बामन जिमायेंगे। जरासी हिम्मत किया तो थोड़ा सा नीचे उतर आया। अब वह सोचता है कि 100 तो नहीं पर 50 जरूर जिमायेंगे। फिर कुछ और नीचे उतरा हिम्मत करके तो कहता है कि 50 तो नहीं पर 10 जरूर जिमायेंगे। जब बिल्कुल नीचे उतर गया तो सोचा कि वाह उतरे तो हम हैं बामनों को हम क्यों जिमायें? तो अपने जीवन में ही देख लो जब बहुत वेदना में हो जाते है तब ख्याल होता है कि ऐसा दुर्लभ नरजीवन ओह व्यर्थ ही गंवा दिया, क्या हाथ लगा, 50-60 वर्ष की उम्र बिता डाली- अब भी सूने के सूने हैं।

अविद्यासंस्कार- भैया ! परप्रसंग में पड़े हुए इतने दिन तो हो गये कुछ भी हाथ लगा हो तो बतावो। आत्मा के गुणों के विकास में वृद्धि हुई हो अथवा शांति या आनन्द की वृद्धि हुई हो तो बतावो। अरे वृद्धि तो क्या अशांति ही बर्ती जा रही है और गुणों की अवनति ही होती चली जा रही है। कभी-कभी यहां प्रभुभजन, आत्मचिंतन, सत्संग ये कुछ सहारा दे देते हैं समझने के लिए, सावधानी के लिए, किन्तु क्या किया जाय- ऐसे चिरकाल के संस्कार हैं हम लोगों के कि क्या कहा जाय? अगर बुरा न लगे तो एक अहाना में कहते हैं कि कुत्ते की पूँछ बांस की पूगेड़ी में रखी, पर जब निकली तो पूंछ टेढ़ी की टेढ़ी निकली सीधी नहीं हो सकी। यों ही हम आप यत्न करते हैं, बहुत-बहुत प्रभुभजन करते हैं, सत्संग करते हैं, धर्म चर्चा करते हैं, लेकिन जैसी योग्यता है वैसी बात बाहर में चला करती है। कहां तक छिपायें अपना दोष, कहां तक बनावें अपनी पोजीशन, कहां तक अपना महत्त्व दिखावें? आखिर ये जैसे हैं तैसे ही रह जाते हैं। ज्ञानी संत पुरुषों को इस जगत् में किसी भी परपदार्थ में अणुमात्र भी विश्वास नहीं है कि यह मेरे हित का साधक है। अपने दोष निरखना और अपने दोषों को दूर करने का यत्न करना, यह काम आंखें मींचकर कर लो। बड़ा बेढब रंग है इस जगत् का।

दोषग्रस्तता- भैया ! अपने दोष देखें तो दोष बहुत दिखेंगे। मोह, राग, पक्ष, मात्सर्य, अविद्या और पाँच पापों की वृत्तियां क्या-क्या बातें दिखायी जायें, इन सब दोषों में ग्रस्त यह आत्मा अपने स्वरूप में निश्चल निस्तरंग, नीरंग अवस्थित नहीं रह सकता है और बाहरी पदार्थों में दौड़ दौड़कर भागता है। दौड़ता नहीं है फिर भी बड़ी दौड़ करता है। कहां जाता है ज्ञान, अपने प्रदेशों से बाहर किसी बाह्य पदार्थ में यह ज्ञानगुण जा ही नहीं सकता है। वहीं का वहीं प्रदेशों में ही गुथागुथा शाश्वत अवस्थित है, फिर भी दौड़ इतनी लम्बी है कि इतनी दौड़ के मारे जगत में हैरान हो गया।

विषयविडम्बना- पुराने जमाने में कोई पुरुष या स्त्री जरा-जरा से झगड़े में कुए में गिरने का डर बताया करते थे। हम कुए में गिर जायेंगे। जब उसका हाथ पकड़ पकड़कर मना करो तब तो वह कहेगी कि हम तो गिरेंगे और जब कहें कि अच्छा चलो, हम तुम्हारे गिरने में मदद करेंगे, हम रस्सा लिये चलते हैं, तुम अपनी कमर में बांधकर लटक जाना, हम तुम्हारे गिरने में मदद दे रहे हैं तो वह हाथ जोड़कर कह देगी ना, ना, हमें नहीं गिरना है। इसी तरह हम आप विषयों के गर्त में थोड़ा-थोड़ा गिर रहे हैं व गिरने में हठ कर रहे हैं,

पर लोग थोड़ा-थोड़ा कुछ ध्यान रोकते हैं कि न गिरो विषयों में और कोई कहे कि गिर तो लो विषयों में खूब मन भर लो, जितना चाहो उतना भोग लो, तो वह मना कर देगा कुछ ही समय बाद कि ना, ना, अब न चाहिए विषयभोग, इनमें तो बड़ी विडम्बना है, बड़ी विपदा है।

मेरे लिये पर की हितकारिता का अभाव- कितनी ही विडम्बनावों को अनादिकाल से यह जीव सहता हुआ आज मनुष्य हुआ है। पुण्य का उदय है, पर यहां के मायामय लोगों में अपना पोजीशन रखना चाहते हैं। अरे सोचो तो पहिले की स्थितियां, पेड़, फूल भी तो तुम्हीं थे, कीड़ा मकोड़ा भी तो तुम्हीं थे। अब क्या है? कुछ चेतो, कुछ सावधान होओ, नहीं तो तुम्हारी दुर्गति होगी। इस चार दिन की चाँदनी को पाकर इतराने में क्या पूरा पड़ेगा? यह जगत् विश्वास के योग्य नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं तो बड़ा विश्वासी हूं और समस्त लोग विश्वास के काबिल नहीं हैं, यह अर्थ नहीं है, किन्तु मेरे हित के लिए मेरे सिवाय प्रत्येक पदार्थ चेतन या अचेतन कोई भी समर्थ नहीं है।

यथार्थज्ञान बिना व्यर्थ की हाय- जब तक इसको अपने ज्ञानानन्दघन अन्तस्तत्त्व का बोध न था, तब तक इसको देह में आत्मबुद्धि रही आयी थी और परिजन के समूह को इस प्रकार देखता था कि मेरा प्राण, मेरा आधार, मेरा सर्वस्व यह ही है और कल्पना में आ जाये कि यह नहीं रहा तो बड़ी श्वास लेता है, बड़ा खेद करता है, किन्तु यह नहीं समझता कि अनादिकाल से ही सर्वजीव अकेले के अकेले ही हैं। सुख में अकेले, दु:ख में अकेले, कर्मबन्ध में अकेले, मोक्ष में अकेले, सर्वत्र अकेले। दो द्रव्य मिलकर एक परिणमन नहीं करते हैं, एक द्रव्य दो द्रव्यों का परिणमन नहीं करता। सर्वपदार्थ अपने में परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र हैं, इसका भान नहीं किया और ऐसी संयोगदृष्टि रही कि यह मेरा है, यह उनका है, इसी दुर्बुद्धि से इस संसारसमुद्र में गोते खाता आ रहा है।

निजचेष्टा का विपरीत आक्रमण- जरा यथार्थ बात और निमित्तदृष्टि दोनों को साथ लगाकर देखो तो जिसको माना कि यह मेरा सर्वस्व है, यह मेरा परिजन है और ये मेरे कुछ नहीं हैं, इनसे मुझे कुछ लाभ नहीं है तो जिन्हें माना कि ये मेरे हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं, उन्हीं के पीछे सारा तन, सारा मन, सारे वचन सब न्यौछावर किए जा रहे हैं। उन नातीपोता, बाल-बच्चों में ही सारा व्यय किया जाता है। कितना गहरा पक्ष है इस व्यवहारी जीव का। पर करे क्या? जैसे चोर चोरों का ही मुहल्ला हो तो वे सब भाई-भाई हैं। अब उन्हें चोर कौन कहेगा? इसी प्रकार मोही मोहियों का यह संसार है। इसमें कौन एक दूसरे को मूढ़ कह सकता है? मोह की कला जिससे जितनी ऊँची बन जाए, वह यहां चतुर माना जाता है। यह है मूढ़ पुरुषों की कथा।

ज्ञानी और अज्ञानियों की परस्पर विपरीत धारणा- जिन्हें आत्मा का परिज्ञान हुआ है, अपने इस ज्ञानस्वरूप में ही यह मैं आत्मा हूं- ऐसा अनुभव जगा है उनकी दशा इन व्यामोही पुरुषों से विपरीत होती है, वे ज्ञान की वृत्ति लिये हुए होते हैं। अज्ञानियों की धारणा उनसे विपरीत होती है। तभी तो सारे अज्ञानी मिलकर ज्ञानी को पागल देखते हैं। कोई अपने बीच 14-15 वर्ष का बालक वैराग्य भरी बातें करे और ज्ञान

की ओर रुचि जगाये तो लोग सोचते हैं कि इसके कुछ बीमारी हो गयी है, कुछ दिमाग में खराबी आ गई है। सो डाक्टर को भी दिखाते हैं कि दिमाग ठीक हो जाये।

यह ज्ञानी जानता है कि भोगों में लिप्त होना, भोगों के प्रति ख्याल बनाना चतुराई नहीं है, यह मूढ़ों का काम है। अज्ञानीजन ज्ञानी को पागल निहारते हैं, किन्तु ज्ञानीपुरुष इन सब व्यामोहियों को पागल निरखता है। दोनों में परस्पर विरुद्ध वृत्ति होती है। अज्ञानीजन इस जगत् में रमें तो रमें, किन्तु ज्ञानी की यह धारणा रहती है कि मेरे आत्मा को तो मेरे अन्तस्तत्त्व का आश्रय ही शरण है और सब धोखा है।

श्लोक 50

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।

कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्पर:।।50।।

ज्ञानी के प्रधान कर्तव्य और परिस्थितिकृत्य का वर्णन- आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्य बुद्धि में देर तक मत रखिये। किसी प्रयोजनवश कुछ करना पड़े तो वचन और काय से अतत्पर होकर, तल्लीन न होकर उसे किया जाए। पूर्व श्लोक में यह बताया गया था कि जिन प्राणियों को शरीर में आत्मा का भ्रम है, उनको तो यह सारा जगत् विश्वास के योग्य लगता है और रमणीक लगता है, किन्तु जिनकी निज आत्मा में ही यह मैं आत्मा हूं- ऐसी दृष्टि रहती है उन संतपुरुषों को कौनसा पदार्थ विश्वास के योग्य है और कौनसा पदार्थ रमण करने के योग्य है- ऐसी बात जानने के पश्चात् यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है, तो फिर ज्ञानी पुरुष भी किसी कारण से घर में रहता है, लोकव्यवहार करता है और विषयों को भोगता है। इसकी क्या वजह है? इसके समाधान में इस श्लोक को समझिये।

मात्र आत्मज्ञान की धारणीयता- समाधान भी हो जाए, ऐसा शिक्षा के रूप में कहा जा रहा है कि हे भव्य प्राणियों ! आत्मज्ञान ही एक नि:शंक सदा धारणा करने के योग्य है। अपनी बुद्धि में यह मैं आत्मा सर्वपदार्थों से न्यारा केवल ज्ञानानन्द परमार्थ सत् हूं- ऐसी प्रतीति बनाओ। देखो जगत् में सारा दु:ख व्यर्थ का है। इस आत्मा का दूसरा कोई कुछ लगता है क्या? इस अमूर्त ज्ञानानन्दघन आत्मा के साथ किसी पर का कुछ संबंध है क्या? कुछ भी तो नहीं।

खूब ध्यानपूर्वक विचार कीजिए, जिसे आपने समझा हो कि यह मेरा लड़का है, मेरी स्त्री है, मेरा अमुक है, वे सर्व तुमसे जुदे हैं। जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टय में रहा करता है, आपके चतुष्टय से सर्वथा जुदा है, फिर उनमें क्या बुद्धि धारण करना, उनमें उपयोग न फंसावो। लेकिन हो कहां रहा है ऐसा? उपयोग अपने निजस्थान को छोड़कर मानो खूँटा तोड़कर बाहर भगा जा रहा है। जैसे बछड़ा खूँटा तोड़कर बाहर भागता है, यों ही उपयोग अपने स्थान को छोड़कर बाहर भगा जा रहा है। सार कुछ नहीं है।

फुटबाल की तरह मोही की दशा- भैया ! फुटबाल की तरह भागे कहां जा रहे हो? जिसके पास जावोगे, उसी के पास से ठोकर लगेगी। फिर लौटकर आना पड़ेगा। लौटकर कहां आयेगा? अपने निज विश्राम का तो परिचय नहीं है, लौटकर किसी और जगह जाएगा तो वहां भी ऐसी ठोकर लगेगी कि फिर और जगह भागना पड़ेगा। यह फुटबाल एक स्थान पर बैठी रहने के लिये नहीं बनी है। कोई सुहावनी गेंद खरीद ले बाजार से तो क्या वह उसे देखता ही रहेगा? अरे वह तो फुटबाल है, फुट की बाल है, पैर की ठोकर लगे, ऐसा गेंद है।

इसी प्रकार यह संसारी प्राणी किसी जगह स्थित रहने के लिये नहीं है। यह फुटबाल की तरह यहां से ठोकर खाया और दूसरी जगह पर पहुंचा, वहां से ठोकर खाया तो तीसरी जगह पहुंचा, यों ही इधर उधर डोलता रहता है, यों ही अज्ञानी का उपयोग फुटबाल की तरह ही यत्र तत्र धक्के खाता फिरता है। कहां बुद्धि लगाते हो? कोई भी पदार्थ बुद्धि लगाने लायक नहीं है, लेकिन ऐसा हो कहां रहा है?

ज्ञानलक्ष्मी की उपासना- अहो ! आजकल ज्ञान का स्थान धनवैभव ने ले लिया। प्राचीनकाल में ज्ञान का ही नाम लक्ष्मी था, विद्या का नाम लक्ष्मी था, क्योंकि लक्ष्मी शब्द का अर्थ लक्षण, लक्ष्य, लक्ष्मी है। तीनों का एक ही मतलब है। तो हमारा जो लक्षण है, वही हमारी लक्ष्मी है। हमारा लक्षण है ज्ञान। ज्ञान ही लक्ष्मी थी और यह ज्ञानलक्ष्मी सर्वप्रकार उपादेय है। तन जाये तो जाये, पर ज्ञानलक्ष्मी प्रसन्न रहे तो कुछ नहीं बिगड़ता है। सब कुछ जाये तो जाए, पर ज्ञानलक्ष्मी प्रसन्न रहे तो कोई भी तो आपदा नहीं है। जहां ज्ञान को स्पष्ट जान रहा हो कि मैं सबसे ही न्यारा ज्ञानमात्र हूं- ऐसे इस जाननहार ज्ञानी संत पर क्या आपदा हो सकती है? नहीं हो सकती।

विडम्बना में शान की होड़- आपदा वहां ही हुआ करती है, जहां या तो जीवन से प्रेम है या धन से प्रेम है। जिसको जिन्दा बने रहने से प्रीति है, उसको कर्म सताया करते हैं; जिसको धन से प्रीति है, उसको भी कर्म सताया करते हैं। अरे किन जीवों में धनी बनने के लिए दौड़ लगाये जा रहे हो? कुछ मौलिक प्रयोजन की बात निर्णय में तो रक्खो। किसको बताने चलें कि मैं बड़ा हूं। किनमें महत्त्व करने के लिए धनी बनने की होड़ लगायी जाती है? ये अपवित्र शरीर वाले खुद भी विनाशीक हैं। यहां मलिन परिणाम वाले जगत् के मनुष्यों को यह समझाने के लिए कि मैं धनी हूं, होड़ लगायी जा रही है क्या? अरे एक प्रभु को प्रसन्न करने का ध्यान होता तो कुछ हाथ भी रहता। अब मायामयी अपवित्र गंदे पदार्थ वाले मोही मानवों को प्रसन्न करने का आशय बनाया तो अपने आपको बलहीन कर लिया। आत्मबल नहीं रहा। किसे बड़ा देखना चाहते हो? यह धन आता है तो आने दो, किन्तु चित्त में वान्छा न रक्खो कि मुझे तो इतना होना ही चाहिए।

आत्मनिर्णय पर सुख की निर्भरता- देखिए भैया ! सुखी करने कोई दूसरा न आयेगा। खुद के ही विचारों से सुख हो सकता है और खुद के ही विचारो से दुःख हो सकता है। अपने आपमें अपने आपका सत्य स्वरूप देखो। किसी को प्रसन्न करने का मन में आशय न बनाओ, किन्तु अपने आपको प्रसन्न करने का, निर्मल बनाने का, निश्चित रहने का आशय बनावो और ऐसा ही यत्न करने का प्रोग्राम बनाओ, आत्मज्ञान

से बढ़कर इस जगत् में अन्य कुछ है ही नहीं। धन कन कंचन राजसुख ये सब सुलभ हैं, किन्तु एक यथार्थ ज्ञान होना, आत्मा के परमार्थस्वरूप का परिचय पाना यह अत्यन्त कठिन चीज है। कठिन क्यों है इस आत्मज्ञान की सिद्धि? धन वैभव हाथी घोड़ा इज्जत ये सब किसी काम नहीं आते, पर अपने आपका यथार्थस्वरूप ज्ञात हो जाय तो यह अतुल निधि है। हुआ सो हुआ। सारा क्लेश दूर हो जाता है। हम ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्यों में बुद्धि न लगायें।

निवृत्ति के भाव से प्रवृत्ति- भैया ! करना पड़ रहा है। कुछ किसी प्रयोजनवश, कर लिया, पर उसे करने योग्य मत समझो। ज्ञानी जीव की क्रियायें करना एक न करने की स्थिति की तैयारी वाली है। जैसे कोई वावदूक, अधिक बोलने वाला पीछे लग जाय, सामने आ जाय, भिड़ जाय तो कुछ प्रिय वचन या उसकी हां में हां बोल देते हैं, इसलिए कि यह टले। तो यों ही अनुराग जिन पर होता है और उन्हें करना पड़ता है तो करता है यह ज्ञानी इसलिए कि जल्दी इससे निपट लें, छुट्टी तो मिले। वचन और शरीर से अतत्पर होकर ही यह ज्ञानी, कुछ करना पड़ता है तो करता है। आत्मज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई बात अपनी बुद्धि में नहीं लानी चाहिए। आते तो हैं परपदार्थ अपनी बुद्धि में, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपनी बुद्धि में उन्हें अधिक देर नहीं रखता। उनके देखने सुनने लगने में अपनी बुद्धि नहीं फंसाया करते हैं। प्रयोजनवश तो जिसमें कुछ अपना या पर का उपकार है अथवा कुछ आत्महित का विचार है तो इस प्रयोजन के वश वचन और काय से कुछ करना भी पड़े तो उसे करता है।

आशय के अनुसार- आत्मकल्याणार्थी पुरुष का कर्तव्य है कि अपने उपयोग को इधर उधर न भ्रमाये और आत्मचिंतन में ही उपयोग को लगाये। जैसे किसी व्यापारी की धुन है आय होना, वह किसी बड़े पुरुष के पास तगाजे को जाता है तो वह सीधा तुरन्त तकाजा तो नहीं कर सकता किन्तु कुछ भी बात कर रहा हो, पर आशय यह पड़ा हुआ है कि अपने दाम लेने की बात छेड़ दी जाय। वह यहां वहां की गप्पें करता है और यह भी उन गप्पों में थोड़ा साथ देता है, पर उसकी धुन है अपनी ही चर्चा को छेड़ना।

प्रयोजनवश ज्ञानी की अतत्परता से प्रवृत्ति- यह ज्ञानी संत अतत्पर होकर कार्य करता है। जैसे मुनीम अथवा खजाने के संभालने वाले खजान्ची बैंकर्स सब उस धन को सुरक्षित रखते हैं, हिसाब रखते हैं, लेकिन चित्त में यह बात पूर्णतया बसी हुई है कि इसमें मेरी एक पाई भी कुछ नहीं है। यों ही ज्ञानी पुरुष मकान में रहता है, पैसा कमाता है, उनकी संभाल रखता है, रक्षा करता है इतने पर भी उसके चित्त में यह दृढ़ता से समाया हुआ है कि मेरे आत्मा का तो परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है। यह ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञायकस्वरूप महान् दुर्ग में विराजमान् है, इसे रंच भी भय नहीं है, किसी शत्रु का इसमें प्रवेश नहीं है। किसी भी पर का इस चेतन गृह में प्रवेश नहीं हो सकता। फिर डर किस बात का है? जब वस्तुस्वरूप के अभ्यास से चिग जाते हैं तो वहां डर है।

ज्ञानी की अतत्परप्रवृत्ति पर एक दृष्टान्त- भैया ! देखा होगा विवाह के दिनों में। पड़ौसनी गीत गाने आया करती हैं और गीत गाने के एवज में उन्हें छटांकभर बतासे मिल जाते हैं। छटांकभर बतासों के लिए वे

इतना तेज गीत गाती कि जैसे मानों उन्हीं का दूल्हा हो, लड़का हो, मेरा दूल्हा, मेरा सरदार, रामलखन जैसी जोड़ी, कितने जोर से बोलती हैं और मां काम के मारे पसीने से लथपथ है, यहां यह किया, वहां वह किया, चैन नहीं मिलती है, लेकिन यह तो बतावो कि यदि दूल्हा घोड़े से गिर पड़े और टाँग टूट जाय तो क्या वे गाने वाली पड़ौसिनियां कुछ खेद मानेंगी या वह मां खेद मानेगी? पड़ौसिनियां तो गाती हैं, वे तो गाने के लिए गाती हैं। कहीं दूल्हा में उनका राग नहीं है। यों ही पडौसिनियों की तरह ज्ञानी संत वचनव्यवहार करते हैं दूसरों से, किन्तु साथ ही यह भी जानते हैं कि किससे बोलें, यहां कोई मेरा प्रभु नहीं है, कोई मेरा शरण मेरा रक्षक हो यहां, ऐसा कोई नहीं है। किससे बोलें, फिर भी बोल रहे हैं। अतत्पर होकर बोल रहे हैं। धुन है आत्महित की। अन्तर में वृत्ति चल रही है ज्ञायकस्वरूप में लीन होने की, किन्तु बात की जा रही है दूसरों से अनेक प्रसंगों की।

ज्ञानी की निज में अनन्यमनस्कता- पनहारिनियां कुए से पानी लाती हैं और सिर पर दो तीन गगरियां रखकर चलती हैं। रास्ता चलती जा रही हैं, गप्पें भी लगाती जा रही हैं, फलानी जिजीयों, फलाने जीजायों, ऐसी बातें भी करती जाती है, किन्तु उनके मूल ध्यान में गगरी को संभाल कर चलना रहता है। इस ही प्रकार यह ज्ञानी संत पुरुष भी बहुत बातें यहां वहां की करता है और अनेक प्रसंगों में भी पड जाता है पर ध्यान उसका इस ओर है कि द्वेष की ज्वाला में जल न पायें और राग में अंधे न बन जायें। इन दो बातों की सावधानी ज्ञानी पुरुष के निरन्तर बनी रहती है। आत्मज्ञान से अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्य बुद्धि में चलता रहे यह ज्ञानी के नहीं है।

कृतार्थता के साधनों पर रुचिवश विभिन्न उत्तर- भैया ! क्या बात बन जाये तो कृतार्थ हो जावें? इसके उत्तर में कोई तो यह कहेगा कि हमारी दुकान बन जाय फिर हमें कुछ आपत्ति नहीं है, यह मकान बन जाय, लड़की का विवाह हो जाय, लड़की सयानी बैठी है इसका विवाह भर हो जाय फिर तो हम स्वतंत्र हैं। ज्ञानी संत से पूछो- क्या काम हो जाय तो तुम कृतार्थ होंगे? तो उसकी अन्तर्ध्वनि निकलती है कि मैं अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप को यथार्थ जान लूँ, और ऐसी ही जानने की स्थिति बनी रहे, तब हम कृतार्थ हैं। परपदार्थ आपके करने से क्या बनते हैं। कितने ही विकल्प किए जायें, जब समय होता है, जब भाग्य होता है तब उस कार्य की सिद्धि होती है।

शान अथवा चाकरी- सभी जीवों के भाग्य लगा है, कोई किसी को पालता नहीं है, रक्षा करता नहीं है। एक दिन के बच्चे का भी भाग्य है और कहो पिता के भाग्य से कई गुणा अच्छा भाग्य है। यह बालक तो पूर्व जन्म की सारी साधना से ताजा पुण्य लाया है, किन्तु यह पिता 50-60 वर्ष की उमर हो गयी ना, तो सारे मायाचार लोभ तृष्णा करके पापों के कारण, कामवासना के कारण सारा पुण्य खो चुका है। तो उस लड़के का भाग्य उस पिता के भाग्य से बढ़कर है। इसी से उस बच्चे की पिता को चिंता करनी पड़ रही है। जो पुण्यहीन है, वह अपनी चिन्ता तो नहीं कर रहा है। उस पुण्यवान् बालक को हंसता हुआ पिता देखना चाहता है। पिता उसे गोद में लेकर आहार कराता है। वह लड़का इतना भाग्यवान् है, तभी तो उसकी इतनी चाकरी की जा रही है। चाकरी तो वही करेगा, जो बहुत पुण्यहीन होगा।

किसको प्रसन्न करना- इस जगत् में किस जीव को प्रसन्न रखने के लिये इतनी चेष्टा की जा रही है? अरे खुद को प्रसन्न कर लीजिए, निर्मल बना लीजिए, तो सर्वसिद्धि आपके हस्तगत हैं। बाहर बाहर के उपयोग के भ्रमाने में तो सार कुछ न आयेगा। अपनी बुद्धि में बहुत देर तक किसी पदार्थ को मत रखिये, क्योंकि यहां कुछ भी परपदार्थ विश्वास के योग्य नहीं है। कोई नाम ले लो कि कौनसा पदार्थ पर का ऐसा है कि हमारा हित कर दे, शान्ति दे दे। है कोई शान्ति देने वाला पदार्थ? खूब सोच लो कि पुद्गल तो कई प्रसंगों में जले भुनें, चेतनों में कुछ बने, वह तो अचेतन थूलमथूल पड़ा हुआ है। कई घटनाएं ऐसी होती हैं, जहां धोखा खाये, दूसरों के आगे बेवकूफ बना पड़े, हित कुछ नहीं मिला, किन्तु अपना अहित ही पर के वातावरण में, पर के सम्बन्ध में पाया है। यहां जीव का कौनसा पदार्थ हितकारी है? किसको प्रसन्न करना चाहते हो? कोई रक्षक हो तो प्रसन्न करो।

जगत् में अशरणता- भैया ! यहां तो ऐसी हालत है कि जैसे किसी जंगल में ऐसी जगह हो, जहां आगे तो नदी हो, अगल बगल पहाड़ों में आग लगी हो और वहां बीच में कोई हिरण खड़ा हो और पीछे से 100 शिकारी धनुष बन्दूक ताने, उस हिरण के बच्चे को मारने के लिए दौड़ रहे हो, तो अब यह अन्दाज कीजिए कि उस हिरण के बच्चे की क्या स्थिति है? उससे भी भयंकर स्थिति हम आप लोगों की है। यहां कौनसा शरण है? किसको प्रसन्न रखना चाहते हो? अपने उपयोग को अपने में डुबाओ, अपने निजज्ञानस्वरूप को देखो और सदा प्रसन्न हो जावो। यही कार्य करने योग्य है। इस आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्य में इस बुद्धि को देर तक मत लगाइये।

प्रायोजनिक ज्ञान की आवश्यकता- आत्मा का ज्ञान अन्य आत्मावों से व समस्त अचेतनों से भिन्न अपने को समझने पर होता है, इससे समस्त पदार्थों का प्रायोजनिक ज्ञान होना आवश्यक है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, उस स्वरूप सहित पदार्थों के परिज्ञान होने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह समस्त विश्व अनन्त पदार्थों का समूह है, इसमें अनन्त तो जीव हैं, उससे अनन्तानन्त गुणे पुद्गल हैं। एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक अकाशद्रव्य है और असंख्यात काल द्रव्य हैं। ये प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप से हैं, अपने द्रव्यक्षेत्र कालभावरूप हैं, पर के द्रव्यक्षेत्र काल भावरूप नहीं हैं। यदि इन समस्त पदार्थों में उनके असाधारण स्वरूप पर और सभी प्रकार के गुणों पर दृष्टि जाए तो साधारण गुणों पर ही दृष्टि है। समस्त पदार्थों का स्वरूप एक समान है।

अस्तित्त्व गुण की व्यापकता- कोई भी पदार्थ हो, आखिर है तो, अस्तित्व होता ही है। अस्तित्व न हो तो फिर किसकी चर्चा हैं? इससे सर्व पदार्थों में अस्तित्व गुण है, सभी पदार्थ सत् हैं। ऐसा भी कुछ है, जो न हो? किसी का नाम लो, ऐसी चीज बताओ जो नहीं है। आप कहेंगे कि कमरे में पुस्तक नहीं है। कमरे में पुस्तक नहीं है, यह तो ठीक है, पर पुस्तक वस्तु कोई चीज तो है, ऐसी चीज का नाम बतावो, जो न हो। कोई सा भी नाम लो। आप कहेंगे कि गधे के सींग नहीं होते। गधे के सींग नहीं हैं। अरे भले ही गधे के सींग नहीं होते, पर गधा कोई होता है, तब तो नाम गधा है। सींग कुछ होती है, तब तो सींग नाम है। जो है

ही नहीं ऐसी चीज का नाम लो। ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं होता। है तो है ही है। अस्तित्वगुण समस्त पदार्थों में हैं।

वस्तुत्वगुण की व्यापकता- सर्व पदार्थ हैं। हैं सो हैं, इतने से वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता। हम हैं, हम हम ही हैं, हम अन्य कुछ नहीं हैं। इतनी बात यदि ना हो तो हम हैं नहीं रह सकते। घड़ी को उठाकर कहो कि यह है, तो यह घड़ी है। अलावा अन्य जितने दुनिया में पदार्थ हैं, वे तो यह नहीं है। यदि कहें कि यह घड़ी भी है, पुस्तक भी है, चौकी भी है तो यह कुछ नहीं रहा फिर। घड़ी तो घड़ी है, अन्य कुछ नहीं है। मनुष्य तो मनुष्य है, अन्य कुछ नहीं हैं। प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वरूप का तो सत्त्व है और स्वातिरिक्त अन्य किसी का भी सत्त्व नहीं है। इतनी बात यदि है तो है, रह सकता है।

एक देहाती आहाना बोलते है कि छूमाबाई सासरे जावोगी? हां। मायके जावोगी? हां। कोई लड़की होगी छूमाबाई। वह नहीं जानती है कि सासरा क्या है व मायका क्या है? ऐसा अविवेक कोई वस्तुस्वरूप में करे। यह क्या है? घड़ी है। और भी कुछ यह है कि नहीं? हां सब रूप है। यह वस्तु का अविवेक है किसी भी पदार्थ को सर्वात्मक मान लेना उस पदार्थ के अस्तित्त्व को ही खो देना है। तो सब पदार्थ हैं और अपने स्वरूप से हैं, पर स्वरूप से नहीं हैं। पदार्थ में इस समय दो बातें समझ में आयी ना कि हर एक पदार्थ है और अपने स्वरूप से है और पर के स्वरूप से नहीं है।

द्रव्यत्वगुण की व्यापकता- कोई अस्तित्व व वस्तुत्व तक ही रह जाय तो काम नहीं चलता। पदार्थ है, ठीक है, पर वह ''है'' तभी रह सकता है, जब निरन्तर उसका परिणमन होता रहे। उसकी दशाएँ अदल बदल होती रहें तो वह मैं ''है'' रह सकता है। अनादि से अनन्तकाल तक एक ही रूप रहे- ऐसा कोई पदार्थ नहीं होता। यद्यपि स्वभावदृष्टि से सब एक रूप है, किन्तु सर्वथा एकरूप रहे, उसमें कुछ परिणमन ही न हो- ऐसा नहीं होता है। कोई मनुष्य ऐसा है, जो न बालक, न जवान, न बूढ़ा, न बच्चा बना हो। क्या ऐसा कोई है? ले आवो उसे, जो सदा एक रूप रहता हो।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अविनाभाविता- भैया ! ध्रौव्य का सम्बन्ध है उत्पाद, व्यय से और उत्पाद व व्यय का सम्बन्ध है ध्रौव्य से। बनना, बिगड़ना, बना रहना- ये तीन बातें प्रत्येक पदार्थ में है। कोई पदार्थ बनता व बिगड़ता तो रहे और बना रहे- ऐसा कोई हो तो बतलावो। कोई पदार्थ बना तो रहे, पर बनता बिगड़ता रंच न हो, हो कोई पदार्थ ऐसा तो यह बताओ। जो बनता बिगड़ता हैं, वही बना रह सकता है। जो बना रह सकता है, वह नियम से प्रति समय बनता बिगड़ता है। प्रत्येक पदार्थ है, वह अपने स्वरूप से है, परस्वरूप से नहीं है, किन्तु यदि परिणमनशील न हो तो उसके ये दोनों गुण भी टिक नहीं सकते। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमते रहते हैं। यह जो वस्तुस्वरूप की चर्चा छिड़ गई है, इसमें हित की बात निकलेगी और मौलिक हित बनेगा। हम पदार्थों का कैसे मोह छोड़े, इसकी शिक्षा वस्तुस्वरूप के ज्ञान में मिलेगी।

अगुरुलघुत्व गुण की व्यापकता- तीन बातें हुई हैं अब तक। पदार्थ हैं, अपने स्वरूप से हैं, पर के स्वरूप से नहीं हैं, निरन्तर परिणमते रहते हैं, किन्तु पदार्थ स्वच्छन्द होकर न परिणमेगा कि इसको तो

परिणमते रहने का हुक्म मिला है। सो वह चाहे घड़ीरूप परिणमें, चाहे चौकी रूप परिणमें, चाहे पुद्गलरूप परिणमें, चाहे जीवरूप परिणमें। यदि ऐसी बात हो, तब तो यह पदार्थ स्वयं ही मिट जायेगा। इसी कारण से तो चौथी बात प्रत्येक पदार्थ में यह है कि वह अपने ही रूप में परिणम सकेगा।

अपना परवस्तु पर अनाधिकार- यह तत्त्वज्ञान हमें यह शिक्षा देता है कि अन्तर की आंखें खोलो, प्रत्येक पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न है, अणुमात्र भी पर के परिणमन से मेरे में कुछ सुधार बिगाड नहीं होता है। आपका इस शरीर पर भी वश नहीं है जिस शरीर में बस रहे हो। आप इसे न दुर्बल होने दें, जब अपने से मिले हुए इस शरीर पर भी हमारा वश नहीं चलता तो फिर पुत्र स्त्री आदि अन्य लोगों पर अपना अधिकार जमायें कि मैं इनका यों करने वाला हूं- यह कितनी अज्ञानता की बात है?

प्रदेशत्व व प्रमेयत्व गुण की व्यापकता- यों वस्तु में चार गुण बताये गये हैं, किन्तु साथ ही यह जानना कि वस्तु कुछ न कुछ अपनी जगह को अपने प्रदेश को घेरे हुए रहती है। न हो कुछ आकार, न हो कुछ प्रदेश तो वह पदार्थ ही क्या है? साथ ही प्रत्येक पदार्थ ज्ञान में आया करता है। यों 6 साधारण गुणों करके तन्मय समस्त पदार्थ हैं।

वस्तुस्वरूप के परिज्ञान से भेदज्ञान का उदय- इन साधारण गुणों की ही दृष्टि रखकर यह सिद्धान्त विदित होता है कि समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूप से अद्वैत है। साधारण गुणों को असाधारण गुण का सहयोग देने की बात इनके स्वरूप में गर्भित है। ऐसे विविक्त निज एकत्वमय सर्वपदार्थों का स्वरूप जान लेने वाला ज्ञानी संत अब किस परतत्त्व को अपनी बुद्धि में धारण करे? क्या है कोई ऐसा पदार्थ संसार में जिससे कि हमारा हित हो जावे, जिससे हमें सुख की प्राप्ति हो जावे। इस दिखने वाले मायामय संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं हैं। इस कारण ज्ञानी जीव अपनी बुद्धि में किसी भी परपदार्थ को धारण नहीं करता। कदाचित् करे भी धारण यानी अपने-अपने उपयोग में तो चिरकाल तक नहीं करता।

पानी में मीन प्यासी- ओह व्यर्थ के ही दु:ख मोल ले रक्खे हैं। निज का स्वरूप तो है अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द वाला किन्तु अपने स्वरूप को भूलकर बाहर में दृष्टि देकर भिखारीपन लादा करते अपने आप पर। मोही बनकर ये जीव आशा करते हैं इन्द्रियों के विषयों की और इन्द्रिय विषयों के साधनों की। जैसे लोग कहते हैं कि 'पानी में मीन प्यासी। मोहि सुनि-सुनि आवे हांसी।।' पानी में रहने वाली मछली यह कहे कि मैं प्यासी हूं तो ऐसी बात सुनकर हँसी आयेगी या नहीं। यों ही आनन्द का स्वरूप होता हुआ भी यह जीव यह अनुभव करे कि मुझे तो बड़ा दु:ख है तो यह हँसी की बात नहीं है क्या? पर हँसे कौन? जहां सभी एकसा बोट है मिथ्यात्व का, मोह का, अब वहां हंसने वाला कौन है?

वस्तुस्वरूप के पारखी का चिन्तन- वस्तु के स्वरूप का पारखी ज्ञानी संत अपने उपयोग में किसी परपदार्थ को चिरकाल तक धारण नहीं करता है। वह समझता है कि मैं ज्ञानमात्र अमूर्त चेतनतत्त्व हूं। इसे कोई समझता भी नहीं है कि मैं क्या हूं। कोई समझ भी जाय तो मेरे लिए उससे कोई व्यवहार नहीं निभता। यह मैं परमार्थ कारणब्रह्म व्यवहार से परे हूं, इसका कोई परिचय करे तो क्या, न करे तो क्या? किसी भी

प्रकार के पर के परिणमन से मेरे सुख दु:ख में अन्तर नहीं आया करता है। सुख जैसे विचार बनावो अभी सुखी हो जावोगे, दु:ख जैसे विचार बनावो अभी दु:खी हो जावोगे। उपादान अशुद्ध है ना। अधिक धन का अभिलाषी और धनवानों पर दृष्टि देकर वर्तमान में पाये हुए धन का भी सुख नहीं ले पाता है, क्योंकि उपयोग तो तृष्णामय बना हुआ है।

संतोषार्थ एक सिंहावलोकन- आज देश में कितने मनुष्य ऐसे होंगे जो भूखों मर रहे हैं, प्राण दे रहे हैं। किसी को आधा पेट भोजन भी नसीब नहीं होता है। कुछ दृष्टि डालकर, कुछ जगह घूम फिर कर देख तो लो। लाखों और करोड़ों पुरुषों की तो ऐसी हालत है और ये तृष्णा के गुन्तारों में अपने को चिंतित बनाये जा रहे हैं। शांति पावो, अपने से हीन उन करोड़ों पर भी दृष्टि दो, जो पाया है उसका सदुपयोग करो। अपनी धर्मसाधना में सावधान रहो। सीधे-सीधे चलोगे तो वहां काम बनेगा भी, टेढ़े उल्टा चलोगे तो वहां हानि ही हानि है। सर्व परपदार्थों से भिन्न अपने को ज्ञानस्वरूप जानकर ज्ञानीसंत अपनी बुद्धि में किसी परपदार्थ को चिरकाल तक धारण नहीं करते हैं। हां कभी कोई प्रयोजन हो तो ज्ञानी प्रयोजनवश वचन और काय से अतत्पर होकर लीन न होकर कुछ करता है, किन्तु देखिये कर्मबंध होता है तो अन्तर के संस्कार के अनुसार होता है। सो कर्तृत्व का महाबन्ध इस ज्ञानी जीव के भी नहीं है।

आत्मज्ञान के संप्रधारण का आग्रह- भैया ! जिनके अन्तर का आशय विशुद्ध है और परिस्थितिवश वचन और काय से करना पड़ता है तो उसे करना नहीं कहा जाता है। कर्ता वह है जो अन्तर में ऐसा आशय रखता हुआ करे। ज्ञानी पुरुष वचन और काय से अतत्पर होता हुआ प्रयोजनवश कुछ करता है जहां तक बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए मुख्यतया यह शिक्षा दी गई है कि बहिरात्मापन को तो छोड़ना चाहिए और परमात्मस्वरूप को ग्रहण करना चाहिए। इन दिनों ही कार्यों का उपाय है अन्तरात्मा बनना चाहिए। उस अन्तरात्मा का क्या स्वरूप है, उसकी कैसी प्रवृत्ति है, उसका कैसा ज्ञान है? इन समस्त बातों पर प्रकाश डालकर अनेक शिक्षा देकर अन्त में यह बात दर्शायी गयी है कि कल्याणार्थी पुरुषों ! तुम्हें अपनी बुद्धि में एक आत्मज्ञान बनाये रहना चाहिए।

हितरूप लक्ष्य और लक्ष्य के अनुसार यत्न में सफलता- भैया ! आशय, लक्ष्य एक ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्व के निहारने का ही हो। लक्ष्य बिना कोई नाव भी चलाये तो थोड़ा इस ओर चलाया, थोड़ा दूसरी ओर चलाया, फायदा क्या हुआ? यों ही लक्ष्य बिना धर्म की धुन में कुछ इस ओर का काम किया, कुछ उस ओर का काम किया, इस प्रकार की धर्म की धुन बनाई तो उससे लाभ क्या? पहिले लक्ष्य को स्थिर करो। हम मनुष्य जीवन में जी रहे हैं तो क्यों? इसलिए कि हम अपने आत्मस्वरूप को परखकर ज्ञानानन्दनिधान अंतस्तत्त्व का निर्णय करके मैं इस अंतस्तत्त्व में ही स्थिर होऊं, यह काम अब तक न किया गया था, आहार निद्रा आदि के काम तो अनन्त बार किये। अब इस अपूर्व कार्य को करके अपना जन्म सफल करना है। मोह ममता से दूर हटकर शुद्ध ज्ञानानन्द का अनुभव करना है। ऐसा निर्णय होना चाहिए और ऐसा ही यत्न होना चाहिए। ऐसे ही पुरुषार्थ में हम आपका कल्याण है।

।। समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ।।